देव, शास्त्र और गुरु

लेखक

डॉ० सुदर्शन लाल जैन
एम.ए., पी-एच डी, आचार्य (प्राकृत, जैनदर्शन और साहित्य)
मन्त्री, अ भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

प्रकाशक

मन्त्री, अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्

आशीर्वाद

१. प. जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी
२ डॉ प. दरबारी लाल 'कोठिया' बीना
३ प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी
४ डॉ देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच

प्राप्तिस्थान

१ मन्त्री, अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्
डॉ सुदर्शन लाल जैन
१, सेन्ट्रल स्कूल कॉलोनी
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००५

२ प्रकाशन मंत्री, अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्
डॉ नेमिचन्द्र जैन, प्राचार्य
श्री पार्श्वनाथ दि. जैन गुरुकुल, सी.से. स्कूल,
खुरई, जिला सागर (म. प्र)

संस्करण

प्रथम

प्रकाशन वर्ष

वीर निर्वाण संवत् २५२०
ई. सन् १९९४

मूल्य

बीस रुपया

मुद्रक

तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

जीव-स्थिति-सूचक गुणस्थान-चक्र

(कर्मों की उदयादि अवस्थाओं से उत्पन्न जीव-परिणाम और जीव-स्थिति)
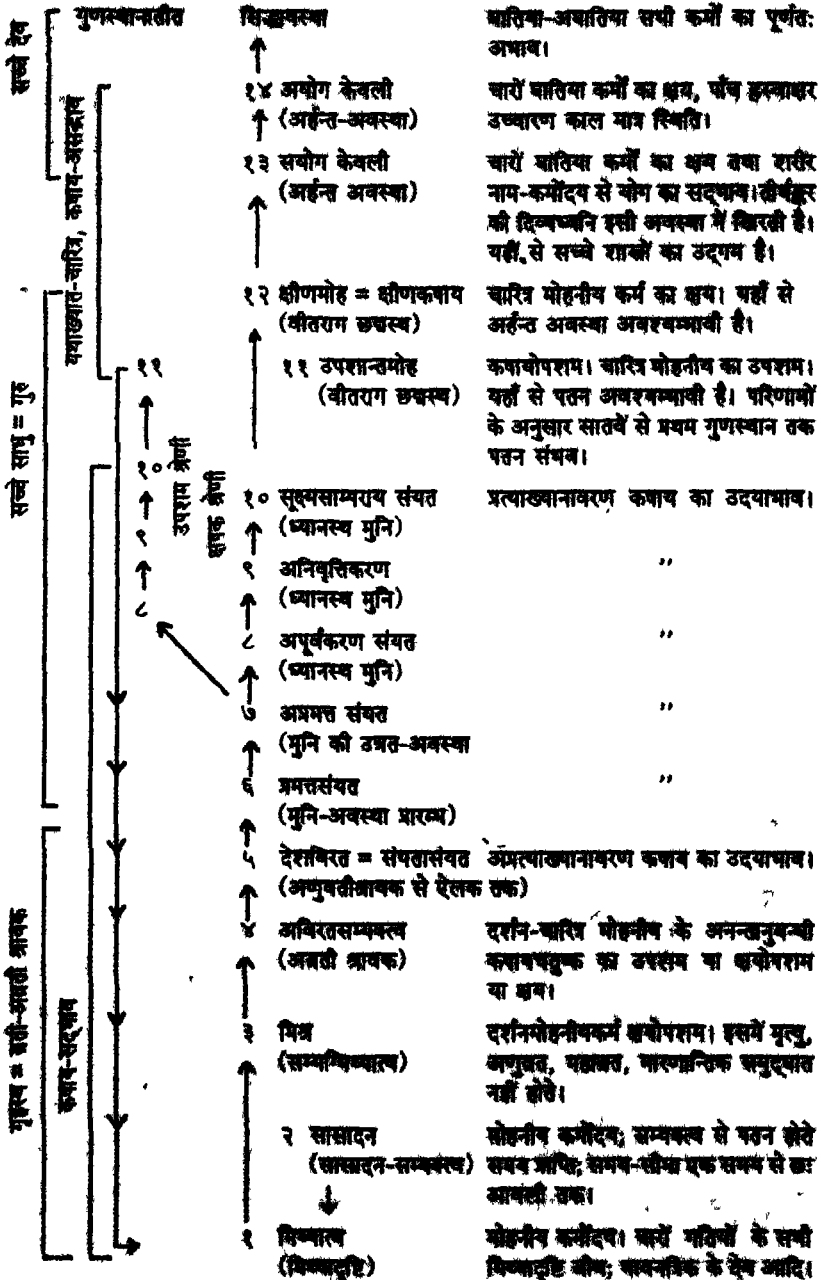
अ॰ भा॰ दि॰ जैन विद्वत्परिषद् के संरक्षक, पदाधिकारी और कार्यकारिणी के सदस्य

संरक्षक सदस्य

१ स्वस्ति श्री कर्मयोगी भट्टारकचारुकीर्ति जी, श्रवणबेलगुल
२ स्वस्तिश्री ज्ञानयोगी भट्टारकचारुकीर्ति जी, मूड़बिद्री
३ सिद्धान्ताचार्य प॰ जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, कटनी
४. प॰ बंशीधर जी व्याकरणाचार्य, बीना
५ डॉ॰ दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य, बीना
६ सहितासूरी प॰ नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर
७. डॉ॰ पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर
८ समाजरत्न प॰ भवरलाल जी न्यायतीर्थ, जयपुर
९ बालब्रह्मचारी प॰ माणिकचन्द्र जी चवरे, कारजा
१०. प॰ हीरालाल जी जैन 'कौशल' न्यायतीर्थ, दिल्ली
११. डॉ॰ कस्तूरचन्द जी कासलीवाल, जयपुर
१२ प॰ नरेन्द्र कुमार जी भिसीकर, सोलापुर
१३. प्रो॰ खुशालचन्द जी गोरावाला, वाराणसी
१४ पं॰ भुवनेन्द्र कुमार जी शास्त्री, बादरी
१५ प॰ सत्यन्धर कुमार जी सेठी, उज्जैन
१६. डॉ॰ राजाराम जी जैन, आरा
१७ प्रो॰ उदयचन्द्र जी जैन, वाराणसी

पदाधिकारी एवं कार्यकारिणी-सदस्य

१ अध्यक्ष, डॉ देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच
२ उपाध्यक्ष, डॉ शीतलचन्द्र जैन, जयपुर
३. मन्त्री, डॉ सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी
४ संयुक्तमंत्री, डॉ सत्यप्रकाश जैन, दिल्ली
५ कोषाध्यक्ष, श्री अमरचन्द्र जैन, सतना
६ प्रकाशनमंत्री, डॉ नेमिचन्द्र जैन, खुरई।
७ प॰ धन्यकुमार भोरे, करजा
८ प॰ प्रकाश हितैषी शास्त्री, दिल्ली
९ डॉ॰ गोकुल प्रसाद जैन, दिल्ली
१० डॉ॰ शिखरचन्द्र जैन, हटा
११ प॰ अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ जयपुर
१२ डॉ॰ रवीन्द्र कुमार जैन, मद्रास
१३ डॉ॰ लालचन्द्र जैन, वैशाली
१४ डॉ॰ विद्यावती जैन, आरा
१५ डॉ॰ राजेन्द्र कुमार बसल, अमलाई
१६ डॉ॰ प्रेमचन्द्र रावका, जयपुर
१७ डॉ॰ उत्तमचन्द्र जैन, सिवनी
१८ डॉ॰ रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर
१९ डॉ॰ फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी' वाराणसी
२०. डॉ॰ कमलेश कुमार जैन, वाराणसी
२१ डॉ॰ कपूरचन्द्र जैन, खतौली

विशेष आमन्त्रित सदस्य

१. प्रो॰ विद्याधर उमाठे, कारंजा
२ डॉ॰ सुरेशचन्द्र जैन, वाराणसी
३ श्रीमन्त सेठ धर्मेन्द्र कुमार जैन, खुरई

(१) आशीर्वाद एवं सम्मति

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के प्रस्ताव को दृष्टि में रखकर जैन धर्मानुसार सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक (शोध निबन्ध) डॉ. सुदर्शन लाल जैन ने लिखकर एक कमी को पूरा किया है। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की जानकारी तथा उनकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन की प्रथम सीढ़ी मानी गई है। इनके सच्चे स्वरूप को जाने विना आगे की यात्रा संभव नहीं है। अतः इनके स्वरूप मे किसी प्रकार की विसंगति न हो इसके लिए प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर इनका स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वर्तमान काल मे शास्त्रो की रचना तथा साधुओं की चर्या मे विसंगतियाँ आने लगी हैं। इसी प्रकार अनेक दिगम्बर जैन देव-मन्दिरो में जिनेन्द्र देव के अलावा पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि शासन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित होने लगी हैं जो कि वीतराग देव की परिभाषा से बाहर हैं। इसीलिए देव, शास्त्र और गुरु के सत्यार्थ की जानकारी समाज के बच्चे बच्चे के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जैनाचार्यों और उनकी प्रामाणिक रचनाओं की भी जानकारी आवश्यक है जिससे सच्चे जैन शास्त्र-परम्परा के इतिहास की जानकारी मिल सके और दिगम्बर जैनो के साहित्यिक योगदान को भी जाना जा सके।

इस कार्य को डॉ. सुदर्शन लाल जैन, जो वर्तमान में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं, अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् के मन्त्री तथा श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान वाराणसी के कार्यकारी मंत्री भी हैं, ने जैन शास्त्रो का सम्यक् आलोड़न करके सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की यथार्थ परिभाषा को तथा उनके नग्न स्वरूप को उजागर किया है। आशा है, इस पुस्तक को पढ़कर न केवल जैन समाज अपितु सत्यान्वेषी समस्त जैनेतर समाज को भी लाभ मिलेगा। इस कार्य-सम्पादन हेतु डॉ. जैन को मेरा आशीर्वाद है।

कटनी (म. प्र.)
दिनाङ्क २५/२/१९९४

पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री
संरक्षक, अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्
पूर्व प्राचार्य, शान्तिनिकेतन जैन संस्था, कटनी

(२) आशीर्वाद एवं सम्मति

प्रस्तुत कृति को पढ़ने से मुझे प्रतीत हुआ कि इसके सुयोग्य लेखक ने इसमे देव, शास्त्र और गुरु तीनों के सम्बन्ध में जैनदर्शन की मान्यतानुसार शोधपूर्ण कार्य उपस्थित किया है। इसमें चार परिच्छेद हैं और प्रत्येक परिच्छेद शास्त्रीय प्रमाणो से युक्त है। यह ऐसी कृति है कि इसके पूर्व मुझे ऐसी महत्त्वपूर्ण रचना पढ़ने और देखने में नही आई। पुस्तक का नाम प्रत्येक जैन के लिए जानने में कठिन न होगा। बालको से लेकर वृद्धों तक और सामान्य जिज्ञासुओं से लेकर विद्वानों तक के लिए इसमे बहुमूल्य सम्पदा पढ़ने के लिए मिलेगी।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने किसी भी विषय पर विना शास्त्रीय प्रमाणों के लेखनी नही चलाई है। सधी हुई लेखनी के अतिरिक्त गहरा विचार भी सरल भाषा मे प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक से मेरा विश्वास है कि जैन के सिवाय जैनेतर भी यह जान सकेगे कि जैनधर्म मे देव, शास्त्र और गुरु का कितनी गहराई और विशदता के साथ विचार किया गया है। इसमे जानकारी देने के लिए बहुत ही अच्छे ढग से विपुल सामग्री दी गई है।

इस पुस्तक की दूसरी विशेषता यह है कि कोई विषय विवाद का नही है। शास्त्रीय प्रमाणों से भरपूर होने के कारण निश्चय ही इस कृति का मूल्य बहुत बढ़ गया है। लेखक ने विवादो से बचते हुए अपने मन्तव्यो को भी स्पष्ट किया है। सच्चाई की कसौटी को पकड़कर ही विवेचन किया है।

हम ऐसी कृति प्रस्तुत करने के लिए डॉ सुदर्शन लाल जैन सस्कृत विभागाध्यक्ष, कला सकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी तथा अ०भा०दि० जैन विद्वत्परिषद् के मन्त्री को हार्दिक मगल आशीर्वाद एव बधाई देते है। अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद् का यह प्रयत्न निश्चय ही श्लाघ्य है जिसने इस महत्त्वपूर्ण कृति को सुयोग्य विद्वान् से तैयार कराया और उसका प्रकाशन किया।

'श्रावकाचार' पर भी इसी प्रकार की एक रचना डॉ. जैन जी से तैयार कराई जाए, जिसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। लेखक की लेखनी बड़ी परिमार्जित और सधी हुई है तथा शोध को लिए हुए है। अतएव विद्वत्परिषद् से मैं अनुरोध करता हूँ कि उनसे श्रावकाचार पर भी इसी प्रकार की कृति तैयार कराए।

बीना (म प्र)
दिनाङ्क २८.६ १९९३

डॉ. दरबारीलाल कोठिया
पूर्व रीडर, का.हि.वि.वि., वाराणसी
संरक्षक, अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्

(३) आशीर्वाद एवं सम्मति

आहारादि संज्ञाओं (आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं) के महाज्वर की पूर्ति हेतु मूढ़ताओ (लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता रूप मिथ्यात्व) का अपनाना महापाप है। अतएव अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् ने स्वयं को तथा समाज को त्रिमूढ़ता-पथिकत्व की अभद्रता से बचाने के लिए मूल आगमपरक देव, शास्त्र और गुरु के लक्षणों की सही जानकारी देने वाले विवेचनात्मक निबन्ध लिखने का प्रस्ताव किया था।

प्रसन्नता है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. सुदर्शनलाल जी ने आधुनिक शोधप्रक्रिया को अपनाकर प्रकृत रचना की है। उनका प्रयास श्लाध्य है और विश्वास है कि तरुण विद्वत्वर्ग इस परम्परा को प्रगति देकर श्रमणसस्कृति की सार्वभौमिकता के समान सार्वकालिकता को भी उजागर करेगे।

वाराणसी
दिनाङ्क १२ ६.९४

प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला
सदस्य, का. हि. वि. वि. समिति
प्रधानमंत्री, अ. भा. दि. जैनसघ, मथुरा

(४) आशीर्वाद एवं सम्मति

आपकी पुस्तक 'देव, शास्त्र और गुरु' आदि से अन्त तक पढ़ गया हूँ। आपने श्रम करके एक उत्तम सकलन पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया है जो स्वागत-योग्य है।....... 'मूलाचार' न मिलने के कारण विलम्ब हुआ। पूरा प्रकरण देखकर-पढ़कर लिखा है।

२४३, शिक्षक कॉलोनी
नीमच (म. प्र.)
दिनाङ्क १२.९.१९९३

डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री
अध्यक्ष, अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्
पूर्व प्रोफेसर, शासकीय महाविद्यालय, नीमच

प्रकाशन मंत्री की लेखनी से

दिगम्बर जैन विद्वानो की अग्रणी सस्था अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् ने अब तक अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सफल प्रकाशन कर साहित्य जगत को समृद्ध किया है। प्रकाशित ग्रन्थो का अवलोकन कर समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने प्रसन्नता प्रकट की है। ग्रन्थो का सर्वत्र समादर हुआ और उनकी समस्त प्रतियाँ हाथो हाथ उठ गई। भारतीय विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयो मे निःशुल्क भेंट किये गये ग्रन्थो का अध्ययन करके जैनेतर विद्वानो ने प्रकाशित ग्रन्थो की एवं विद्वत्परिषद् की साहित्य-सेवा की भी प्रशसा की है। उसी शृखला मे १५ नवम्बर १९९२ मे सतना नगर मे आमंत्रित विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक मे आचार्यों द्वारा मान्य ''देव, शास्त्र एव गुरु'' के निर्विवाद स्वरूप का ज्ञान कराने की भावना से एक ग्रन्थ लिखवाने का प्रस्ताव किया गया। कई विद्वानो से इस कार्य को पूरा करने का आग्रह किया गया। अन्त मे डॉ. सुदर्शनलालजी जैन से उक्त विषय पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने का विशेष अनुरोध किया गया।

डॉ. जैन ने लगभग ६ माह के अनवरत परिश्रम द्वारा देव, शास्त्र और गुरु के स्वरूप पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखकर २७/२८ जून ९३ को खुरई जैन समाज द्वारा अमत्रित दि॰ जैन विद्वत्परिषद् की साधारण सभा के अधिवेशन मे विद्वानो की सम्मति हेतु प्रस्तुत किया। ग्रन्थ को जैन धर्म के मूर्धन्य विद्वान् डॉ प॰ दरबारीलाल जी कोठिया बीना, तथा अध्यक्ष डॉ देवेन्द्र कुमार जी शास्त्री नीमच ने आद्योपान्त पढ़कर अपनी सस्तुति प्रदान की। लेखक ने विद्वानो के सुझावो को प॰ जगन्मोहन लाल जी शास्त्री, कटनी से परामर्श कर यथायोग्य समायोजन किया। इस तरह इस ग्रन्थ को इस रूप मे तैयार करने मे करीब डेढ़ वर्ष का समय लग गया। सुझावो एव सशोधनो के उपरान्त ग्रन्थ को इस रूप मे प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता हो रही है।

अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत्परिषद् के कोषाध्यक्ष श्री अमरचद्र जी जैन एम कॉम ने ग्रन्थ-प्रकाशन हेतु विभिन्न ट्रस्टों से अर्थ उपलब्ध कराया। अतः मै परिषद् की ओर से अमरचद्र जी का तथा उन सभी ट्रस्टो का आभार मानता हूँ।

आशा है, निष्पक्ष दृष्टि से पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य सबलप्रमाणो के आधार पर लिखित यह ग्रन्थ समग्र जैन समाज मे समादरणीय होगा, ऐसी भावना है।

प्राचार्य, एस पी. जैन गुरुकुल, उ मा वि , खुरई **डॉ. नेमिचन्द्र जैन**

प्रकाशन मत्री, अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत्परिषद् दिनाङ्क ३० ५ १९९४

प्राक्कथन

नवम्बर १९९२ में सतना (मध्यप्रदेश) में आयोजित अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक में निर्णय लिया गया कि परिषद् से सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर प्राचीन आगम ग्रन्थों के उद्धरणों को देते हुए एक प्रामाणिक पुस्तक तैयार कराई जाए जिससे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के सन्दर्भ मे व्याप्त भ्रम को दूर किया जा सके। एतदर्थ विद्वानों से कई बार आग्रह किया गया। विवादरहित, शोधपूर्ण, प्रामाणिक तथा सर्वसाधारण सुलभ ग्रन्थ तैयार करना आसान कार्य नहीं था फिर भी गुरुजनों के अनुरोध को स्वीकार करते हुए मैंने इस कार्य को करना स्वीकार कर लिया और पूर्ण निष्ठा के साथ इस कार्य मे जुट गया। एतदर्थ मैंने मुनियों और विद्वानों से संपर्क किया। समाज के लोगो से भी परामर्श किया। अन्त में पाण्डुलिपि लेकर पूज्य पं. जगन्मोहन लालजी शास्त्री कटनी वालो के पास गया। पंडित जी ने उसे आद्योपान्त देखा और वर्तमान रूप मे प्रस्तुत करने का निर्देश दिया। इसके बाद ग्रन्थ को नया रूप प्रदान करके २६-२७ जून १९९३ को विद्वतपरिषद् की खुरई मे आयोजित साधारण सभा मे प्रस्तुत किया। सभी ने सर्वसम्मति से इसके प्रकाशन हेतु स्वीकृति प्रदान की। इसी अधिवेशन मे डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री नीमच वालों को विद्वत् परिषद् का अध्यक्ष तथा मुझे मत्री चुना गया। पुस्तक की दो प्रतियाँ तैयार की गई थी जिनमे से एक प्रति लेकर मैं आदरणीय पं. दरबारी लाल कोठिया जी के साथ पुस्तक-वाचना हेतु बीना गया, तथा दूसरी प्रति आदरणीय अध्यक्ष डॉ. देवेन्द्र कुमार जी अपने साथ ले गए। अध्यक्ष जी ने उसका आद्योपान्त गहन अध्ययन किया और तेईस सुझाव दिए। उन सुझावो को दृष्टि में रखते हुए मैंने तदनुसार मूल प्रति में सशोधन किये। पश्चात् पुनः आदरणीय पं. जगन्मोहनलालजी के पास कटनी गया जहाँ पुनः वाचन करके ग्रन्थ को अंतिम रूप दिया गया। इस तरह एक लम्बा समय इस कार्य में लग गया।

प्रस्तुत पुस्तक को चार अध्यायो मे विभक्त किया गया है। प्रथम तीन अध्यायों में क्रमशः देव, शास्त्र और गुरु सम्बन्धी विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय उपसहारात्मक है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में भी एक छोटा उपसंहार दिया गया है। अन्त मे दो परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट द्वितीय अध्याय की चूलिकारूप है जिससे शास्त्रकारों और शास्त्रो की ऐतिहासिक जानकारी मिल सकेगी। आगमों के उत्सर्गमार्ग (राजमार्ग, प्रधानमार्ग) तथा अपवादमार्ग (विशेष परिस्थितियों वाला मार्ग) के विवेकज्ञान को दृष्टि मे रखते हुए आभ्यन्तर और

बाह्य उभयरूपो की शुद्धता अपेक्षित है। वीतराग छद्मस्थ तथा अर्हत्-अवस्था की प्राप्ति होने के पूर्व यथाख्यात चारित्र सभव नहीं है। अतः बाह्य-क्रियाओं में सावधानी अपेक्षित है। बाह्य-क्रियायें ही सब कुछ हैं, यह पक्ष भी ठीक नहीं है। यही जिनवाणी का सार है। वीतरागता और अहिंसा उसकी कसौटी है।

पुस्तक का कवरपृष्ठ ऐसा बनाया गया है जिससे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु को चित्ररूप मे जाना जा सके। ग्रन्थारम्भ मे गुणस्थान-चक्र दिया गया है जिसमें चारित्रिक विकास और पतन के साथ यह दर्शाया गया है कि एक मिथ्यात्वी जीव कैसे गुणस्थान-क्रम से भगवान् (देव) बन जाता है। 'प्रत्येक आत्मा परमात्मा है' यह जैनदर्शन का उद्घोष ससार के समस्त प्राणियो के लिए 'अमृत-औषधि' है।

अन्त मे मैं इस ग्रन्थ के लेखन आदि में जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है उनके प्रति हृदय से आभारी हूँ। सबसे अधिक मैं पूज्य गुरुवर्य प॰ जगन्मोहन लाल जी शास्त्री का ऋणी हूँ जिनके निर्देशन मे यह कार्य हो सका। इसके अतिरिक्त परिषद् के सरक्षक प॰ डॉ॰ दरबारी लाल कोठिया, डॉ॰ पन्नालाल जी साहित्याचार्य, ब्र॰ माणिकचन्द्र जी चवरे, प॰ हीरालाल जैन कौशल, डॉ॰ कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, प्रो. खुशाल चन्द्र गोराबाला, प्रो॰ राजाराम जैन, अध्यक्ष डॉ॰ देवेन्द्रकुमार शास्त्री, उपाध्यक्ष डॉ॰ शीतलचद जैन, कोषाध्यक्ष श्री अमरचन्द्र जैन, प्रकाशन मन्त्री डॉ॰ नेमीचन्द्र जैन, सयुक्त मन्त्री डॉ॰ सत्यप्रकाश जैन, डॉ. कमलेश कुमार जैन, डॉ. फूलचन्द्र प्रेमी आदि विद्वत् परिषद् के सभी विद्वानो का आभारी हूँ। श्री हुकमचन्द जी जैन (नेता जी) सतना, श्री ऋषभदास जी जैन वाराणसी, डॉ॰ देवकुमार सिंघई जबलपुर, मास्टर कोमलचन्द्र जी जैन जबलपुर, सिंघई देवकुमार जी आरा आदि समाज के प्रतिष्ठित श्रावको का भी आभारी हूँ जिन्होंने विविधरूपो मे सहयोग किया।

मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती मनोरमा जैन (जैनदर्शनाचार्य) तथा पुत्र श्री अभिषेक कुमार जैन को उनके सहयोग के लिए साधुवाद देता हूँ। डॉ. कपिलदेव गिरि तथा तारा प्रिंटिंग प्रेस के श्री रविप्रकाश पण्ड्या जी को धन्यवाद देता हूँ जिन्होने पुस्तक की सुन्दर छपाई मे सहयोग किया है। लेखन मे जो त्रुटियाँ हुई हो उन्हे विद्वत् पाठकगण क्षमा करेगे तथा अपने बहुमूल्य विचारो से मुझे उपकृत करेंगे।

श्रुतपंचमी
वी॰नि॰सं॰ २५२०
१४ जून, १९९४

डॉ॰ सुदर्शन लाल जैन
मन्त्री, अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत् परिषद्
अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विषय-सूची

●

प्रथम अध्याय

देव (अर्हन्त और सिद्ध) का स्वरूप

प्रस्तावना

ससार मे अनेक प्रकार के आराध्य देवों, परस्पर विरुद्ध कथन करने वाले शास्त्रो तथा विविध रूपधारी गुरुओं की अनेक परम्पराओं को देखकर मानव मात्र के मन मे स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि इनमे सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु कौन हैं? जिनसे स्वय का एवं संसार के प्राणियों का कल्याण हो सकता है। किसी भी कल्याणकारी धर्म की प्रामाणिकता की कसौटी उसमे स्वीकृत आराध्यदेव, शास्त्र (आगम) और गुरु हैं। यदि आराध्य देव रागादि से युक्त हो, शास्त्र रागादि के प्रतिपादक हों तथा रागादि भावो से युक्त होकर गुरु रागादिजनक विषयों के उपदेष्टा हो तो उनसे किसी भी प्रकार के कल्याण की कामना नही की जा सकती है। अतः कल्याणार्थी को सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की ही शरण लेना चाहिए। जैनधर्म के आगम ग्रन्थो मे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की जो पहचान बतलाई है उसका विचार यहाँ क्रमशः तीन अध्यायो मे किया जायेगा।

सच्चे देव शब्द का अर्थ

जैन आगमों मे 'देव' शब्द का प्रयोग सामान्यतया जीवन्मुक्त (अर्हन्त), विदेहमुक्त (सिद्ध) तथा देव गति के जीवो के लिए किया गया है। इनमे से प्रथम दो (अर्हन्त और सिद्ध) मे ही वास्तविक देवत्व है, अन्य मे नही। देवगति के देव चार प्रकार के हैं[1]—

भवनवासी (प्रायः भवनो मे रहने वाले), व्यन्तर (विविध देशान्तरो तथा वृक्षादिको मे रहने वाले), ज्योतिष्क (प्रकाशमान सूर्य, चन्द्रमा आदि), और वैमानिक (रूढि से विमानवासी, क्योंकि ज्योतिष्क देव भी विमान में रहते हैं)। देवगति में स्थित इन चार प्रकार के जीवों में वैमानिक देवों की श्रेष्ठता है। वैमानिकों में भी सर्वार्थसिध्दि तथा लौकान्तिक (पंचम स्वर्गवर्ती) के देव एक बार मनुष्य

---

१. देवाश्चतुर्णिकायाः। —त०सू० ४.१.
के पुनस्ते? भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति। —स० सि० ४.१.

जन्म लेकर तथा विजयादिक के देव दो बार मनुष्य जन्म लेकर नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।[१] नव अनुदिश, पाँच अनुत्तर तथा लौकान्तिक देव नियम से मोक्षगामी होते हैं और इन देवगतियो मे सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं। लौकान्तिक देव केवल दीक्षा-कल्याणक मे आते हैं अर्थात् जब भगवान् को वैराग्य होता है और वे दीक्षा लेते है तो लौकान्तिक देव आकर उनके विचारो का समर्थन करते हैं, फिर कभी नही आते। भवनत्रिक (भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क) देवो को अधम देव (कुदेव) कहा गया है।[२] यद्यपि नवग्रैवेयक तक मिथ्यादृष्टि भी जाते हैं परन्तु उन्हे कुदेव नही कहा गया है। इनकी पूजा नही होती।

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवो मे सम्यग्दृष्टि जन्म नही लेते हैं। यहाँ सौधर्म इन्द्र का शासन होता है। अतः भवनत्रिक के देव और श्री आदि देवियाँ सौधर्म इन्द्र के शासन मे रहते हैं। सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से ही ये तीर्थङ्करो की सेवा करते हैं। अतएव पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि को मन्दिरो मे भगवान् के सेवक के रूप मे प्रतिष्ठित किया जाता है। ये भगवान् की तरह पूज्य नही है। जिनेन्द्रभक्त होने से क्षेत्रपालादि मे साधर्म्य-वात्सल्य रखा जा सकता है, पूज्य देवत्व मानना मूढता (अज्ञान) है। सरागी देवो से अनर्घ्यपद (मोक्षपद) प्राप्त की कामना करके उन्हे मन्त्र पढ़कर अर्घ्य चढ़ाना, अज्ञान नही तो क्या है? इनके अलावा ससार मे कई कल्पित देव (अदेव) हैं। जिन क्षेत्रपाल आदि के नाम जैन सम्मत देवगति के जीवो मे आते हैं उन्हे कुदेव (अधम या मिथ्यादृष्टि देव) कहा गया है तथा जिनका नाम जैनसम्मत देवगति मे कही नही आता है ऐसे कल्पित देवो को अदेव (अदेवे देवबुद्धिः) कहा गया है। अर्हन्त और सिद्ध देवाधिदेव हैं जिनकी सभी (चारो गतियो के देवादि) जीव आराधना करते हैं।[३] यहाँ देवगति को प्राप्त ससारी जीवो का विचार करना अपेक्षित नही हैं अपितु वीतरागी, आराध्य देवाधिदेव ही विचारणीय हैं, क्योंकि उन्हे ही सच्चे देव, परमात्मा, भगवान्, ईश्वर आदि नामों से कहा गया है। इस तरह सामान्य रूप से कथित देवो को निम्न चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

---

१ ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः। —त०सू ४ २४
विजयादिषु द्विचरमाः। —त०सू०, ४ २६ तथा इस पर सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाएँ।

२. भवनवास्यादिष्वधमदेवेषु। —ध० १/१.१.१६९/४०६/५.

३ देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्। —आ०मी०१, तथा वही, २-७

(१) देवाधिदेव (अर्हन्त और सिद्ध)। ये ही सच्चे आराध्य देव हैं।

(२) सामान्य देव (देवगति के सम्यग्दृष्टि देव)।

(३) कुदेव (देवगति के मिथ्यादृष्टि देव = भवनत्रिक के देव)।

(४) अदेव (कल्पित देव)।

भट्टारक-परम्परा से शासन देवी-देवताओं की पूजा का अनुचित प्रवेश

वि.स. १३१० मे आचार्य प्रभाचन्द्र दि० जैन मूलसंघ के पट्ट पर आसीन हुए। इनके समय मे एक विशेष घटना हुई— वि स १३७५ मे शास्त्रार्थ में विजयी होने पर दिल्ली के बादशाह ने राजमहल मे आकर दर्शन देने की प्रार्थना की। एक नग्न साधु राजमहलो मे रानियो के समक्ष कैसे जाए? न जाने पर राजप्रकोप का भय देखकर तथा समाज के विशेष अनुरोध पर धर्मवृद्धि हेतु आचार्य प्रभाचन्द्र लंगोटी धारण करके राजमहल मे गए। पश्चात् मुनि-परम्परा मे शिथिलाचार न आ जाए एतदर्थ आचार्य पद छोड़कर ८९ वर्ष की आयु में भट्टारक नाम रखा। सवस्त्र भट्टारक वस्तुतः श्रावक ही कहलाए। परन्तु इस अपवादमार्ग का कालान्तर मे बड़ा दुरुपयोग हुआ। जिनेन्द्र देव की मूर्तियो की रक्षार्थ सेवक के रूप मे जो शासन देवी-देवताओ की मूर्तियाँ रखी गई थी उन्ही की पूजा की जाने लगी और वस्त्रधारी भट्टारकों द्वारा सरागी शासनदेवी-देवताओ की पूजा से सुख-साधनो का समाज में प्रचार हुआ। इस तरह सरागी ससारी देवों की पूजा का शुभारम्भ हुआ जो सर्वथा अनुचित है और मिथ्यात्व का द्योतक है। वस्तुतः पद्मावती आदि देवियाँ और अन्य शासन देव अपूज्य हैं।[१] जिनेन्द्रभक्त होने से उनमे वात्सल्यभाव रखा जाना उचित है।

देव सृष्टिकर्ता आदि नहीं

जैनागमों मे भगवान् को सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और सहारकर्ता के रूप मे स्वीकार नही किया गया है, अपितु मोक्षमार्ग के नेता (हितोपदेष्टा), कर्मरूपीपर्वतों के भेत्ता (निर्दोष एवं वीतरागी) तथा समस्त पदार्थों के ज्ञाता के रूप में स्वीकार किया है और उन्हे ही नमस्कार किया गया है।[२] इससे स्पष्ट

१ देखें, पं. जगन्मोहन लाल शास्त्री, परवार जैन समाज का इतिहास, प्रस्तावना, पृ० २७-३४।

२. मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।। —तत्त्वार्थसूत्र, मंगलाचरण।

है कि देवाधिदेव वे ही पुरुष-विशेष हैं जो वीतरागी हैं तथा जिन्होंने आत्मा का घात करने वाले समस्त कर्मों को नष्ट करके सर्वज्ञता प्राप्त कर ली है। ऐसे देवों को सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता और सहारकर्त्ता मानने पर अनेक कठिनाईयाँ उपस्थित होती हैं जिनका प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि जैनन्याय के ग्रन्थो में विस्तार से विवेचन किया गया है।

देवस्तुति का प्रयोजन

वीतरागी स्वभाव होने से भगवान् निन्दा अथवा स्तुति से न तो नाराज होते हैं और न प्रसन्न। कर्मरूपी आवरण के नष्ट होने से अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी वीतरागता के कारण ससार की सृष्टि आदि से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। वीतरागी अर्हन्त और सिद्धो की भक्ति किसी सासारिक-कामना की पूर्ति हेतु नही की जाती, अपितु उन्हे आदर्श पुरुषोत्तम मानकर केवल उनके गुणो का चिन्तवन किया जाता है और वैसा बनने की भावना भायी जाती है। फलत भक्त के परिणामो मे स्वभावत निर्मलता आती है, इसमे ईश्वरकृत कृपा आदि अपेक्षित नही है। देवमूर्ति, शास्त्र एव गुरु के आलम्बन से भक्त अपना कल्याण करता है। अत व्यवहार से उन्हें कल्याण का कर्ता कहते हैं, निश्चय से नहीं, क्योकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नही है, सभी द्रव्य अपने-अपने कर्त्ता हैं। उपादान मे ही कर्तृत्व है। निमित्त उसमे सहायक हो सकता है क्योंकि व्यावहारिक भाषा मे परनिमित्त को कर्त्ता कहते है। अध्यात्म की भाषा मे पर-पदार्थ निमित्तमात्र है, कर्त्ता नही। अतएव भक्तिस्तोत्रों मे फलप्राप्ति की जो भावनाये की गई हैं वे औपचारिक व्यवहार नयाश्रित कथन हैं। भावो की निर्मलता ही कार्य-सिद्धि मे साधक होती है। अर्थात् वीतरागभक्ति से भावो मे निर्मलता आती है और फलस्वरूप कर्मरज के हटने से भक्त्यनुसार फलप्राप्ति होती है। मोक्षार्थी को सासारिक लाभ की कामना नही करना चाहिए क्योंकि इससे ससार-स्थिति बढ़ती है, मुक्ति नही।[१]

तारणस्वामी द्वारा देवस्तुति का निषेध नहीं

वि सं. १५९५ में तारणपथ के प्रतिष्ठापक तारणस्वामी ने अपने चौदह ग्रन्थो मे कही भी जिन-प्रतिमाओं का निषेध नहीं किया है अपितु उन्होंने अदेव

---

१ अरहत सिद्धचेदियपवयण-गणणाण-भत्तिसपण्णो।
बधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि।। —पंचास्तिकाय १६६
तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाण तेण पप्पोदि।। —पचा.१६९

मे देवबुद्धि का निषेध किया है। इनके काल में मुगलो का शासन था। मूर्तियों और मन्दिरो को तोड़ा जा रहा था। साधु-परम्परा भी टूट रही थी। ऐसे समय मे समस्त हिन्दू समाज अपने धर्मायतनो की रक्षा के लिए चिंतित था। इसी चिन्ता मे निमग्न तारणस्वामी ने जैनशास्त्रो की रक्षा हेतु शास्त्र-पूजा का विधान किया ताकि कालान्तर में जैनधर्म सुरक्षित रह सके। जहाँ शास्त्र (प्राचीन शास्त्र और तारणस्वामी द्वारा लिखित शास्त्र) रखे गए उस स्थान का नाम चैत्यालय रखा गया। 'चैत्य' नाम 'प्रतिमा' का वाचक है। इस तरह तारणस्वामी ने विकट परिस्थितियों में प्रकारान्तर से देवस्तुति का समर्थन ही किया है, निषेध नहीं।[१]

शक्ति की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा परमात्मा है

दु:ख और ससार-परिभ्रमण का कारण है – राग। जब रागभाव पूर्णरूप से निर्जीर्ण हो जाता है तब आत्मा के आवरक कर्मों का भी क्रमश: पूर्ण क्षय हो जाता है। फलस्वरूप स्वयंप्रकाश चैतन्य आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर परमात्मा बन जाता है। अतएव कहा है 'प्रत्येक आत्मा परमात्मा है'।[२]

देव के आप्तादि नाम और उसके भेद

आत्मा से परमात्मा बने पुरुषोत्तम को ही 'आप्त' (प्रामाणिक पुरुष) कहा जाता है। भूख, प्यास, भय, क्रोध, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग (अरति) इन अठारह दोषो का 'आप्त' मे सर्वथा अभाव होता है।[३] इसे ही परमेष्ठी, परज्योति, विराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है।[४] जो त्रिकालवर्ती गुण और पर्यायो से युक्त

---

१ परवार जैन समाज का इतिहास, प्रस्तावना, पृ० ३५

२ य: परमात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्तत:।
अहमेव मयोपास्यो नान्य: कश्चिदिति स्थिति:।। –समाधिशतक ३१.

३ छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरारुजामिच्चू।
स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दाजणुव्वेगो।। –नियमसार ६.
आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।। –र०क० ५
क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त: स प्रकीर्त्यते।। –र०क० ६.

४. परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमल: कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्त: सार्व: शास्तोपलाल्यते ।। –र. क. ७.

समस्त द्रव्यों को तथा समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष (इन्द्रियादि-निरपेक्ष दिव्यज्ञान अर्थात् केवलज्ञान से) जानता है, वह सर्वज्ञ देव है।[१]

'दिव्' धातु का प्रयोग क्रीड़ा, जय आदि अनेक अर्थों में होता है। इसी 'दिव्' धातु से 'देव' शब्द बनता है। देव शब्द का अर्थ करते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका मे पञ्च परमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) को 'देव' कहा है— 'जो परमसुख में क्रीड़ा करता है, अथवा जो कर्मों को जीतने के प्रयत्न मे संलग्न है अथवा जो करोड़ो सूर्यों से भी अधिक तेज से देदीप्यमान है, वह देव है। जैसे— अर्हन्त परमेष्ठी (जो धर्मयुक्त व्यवहार का विधाता है तथा लोक-अलोक को जानता है), सिद्ध परमेष्ठी (जो शुद्ध आत्मस्वरूप से स्तुति किया जाता है), आचार्य, उपाध्याय और साधु।[२]

यहाँ आचार्य आदि मे आंशिक रत्नत्रय का सद्भाव होने से उन्हे उपचार से 'देव' कहा गया है।[३] इसी प्रकार रत्नत्रय की दृष्टि से नव देवताओ का

---

१ जो जाणदि पच्चक्खं तियालगुण-पज्जएहिं संजुत्तं।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो।। –का०अ० ३०२

२ दीव्यति क्रीडति परमानन्दे इति देव., अथवा दीव्यति कर्माणि जेतुमिच्छति इति देव., वा दीव्यति कोटिसूर्याधिकतेजसा द्योतत इति देव., अर्हन्, वा दीव्यति धर्मव्यवहार विदधाति देव., वा दीव्यति लोकालोक गच्छति जानाति, ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति वचनात्, इति देव., सिद्धपरमेष्ठी, वा दीव्यति स्तौति स्वचिद्रूपमिति देव., सूरि-पाठक-साधुरूपस्तम्।
–का०अ०, टीका १ १ १५

३ आचार्य, उपाध्याय और साधु मे कथचिद् देवत्व तथा एतद्विषयक शका-समाधान—
सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिन ।
न कामपि भिदा क्वापि ता विद्मो हा जडा वयम् ।।
–नियमसार, ता० वृ० १४६ क, २५३/२९६

युक्त प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धाना च नमस्कार, नाचार्यादीनामप्राप्तात्मस्वरूपत्व-वतस्तेषा देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देव, अन्यथा शेषजीवानामपि देवत्वापत्ते। तत आचार्यादयोऽपि देवा रत्नत्रयास्तित्व प्रत्यविशेषात्। नाचार्यादिस्थितरत्नाना सिद्धस्थरत्नेभ्यो भेदो रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्ते । सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्ते.। न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तृणि रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात् । तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम्।
–ध०१/१ १.१/५२/२ , तथा देखिए ध० ९/४ १.१/११/१, बोधपाहुड २४-२५

भी उल्लेख मिलता है। वे नव देवता हैं– पाँच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिनवचन, जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर[1]। इससे स्पष्ट है कि पूज्य वही है जो देव हो और देवत्व (ईश्वरत्व) वहीं है जहाँ रत्नत्रय अथवा रत्नत्रय का अंश अथवा शुद्ध रत्नत्रयप्राप्ति की हेतुता हो।

पंचाध्यायी में रागादि और ज्ञानावरणादि कर्मों के अभाव से जन्य अनन्तचतुष्टय (केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य) से सम्पन्न आत्मा को 'देव' कहा है[2]। वह देव शुद्धोपलब्धिरूप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एक प्रकार का है– 'सिद्ध', परन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से दो प्रकार का है– अर्हन्त और सिद्ध[3]।

इस तरह इन देवो को विशेष-विशेष गुणो की अपेक्षा विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, जैसे– आप्त (प्रामाणिक वक्ता), सर्वज्ञ (त्रिकालवर्ती सकल पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाला), जिन (क्रोधादि को जीतने वाला), अर्हत् (पूज्य), अर्हन्त (कर्म-शत्रुहन्ता), जीवन्मुक्त (आयुः कर्म के कारण शरीर रहते हुए भी मुक्त), विदेहमुक्त (शरीररहित सिद्धावस्था), केवली (केवलज्ञानी = सर्वज्ञ), सिद्ध (शुद्ध स्व-स्वरूपोपलब्धि), अनन्तचतुष्टयसम्पन्न (अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य से युक्त) आदि नामो से कहा गया है। इन्हें मुख्यतः अर्हन्त (शरीरसहित) और सिद्ध (शरीररहित) इन दो भागो में विभक्त करके यहाँ विचार किया गया है, क्योंकि व्यक्ति अपने कर्मों को नष्ट करके जब स्वयं परमात्मा बन जाता है तो उसकी क्रमशः ये दो अवस्थायें सम्भव हैं— अर्हन्त और सिद्ध।

---

१ अरहंतसिद्धसाहूतिदयं जिणधम्मवयणपडिमाहू।
जिण-णिलया इदिराए णवदेवता दिंतु मे बोहिं।। –र. क. ११९/१६८ पर उद्धृत।

२ दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं च कर्म तत्।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते।। –पं. अ., उ. ६०३.
अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम्।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम्।। –पं. अ., उ. ६०४.
तथा देखिए, बोधपाहुड २४-२५, दर्शनपाहुड, २.१२.२०

३. एको देवो स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः।
अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः।। –पं० अ०, उ० ६०५.

अर्हन्त (जीवन्मुक्त)

पूजार्थक 'अर्ह्' धातु से 'शतृ' (अत्) प्रत्यय करने पर 'अर्हत्' शब्द बनता है। इसीलिए देव अतिशय पूजा, सत्कार तथा नमस्कार के योग्य होने से और तद्भव मोक्ष जाने के योग्य होने से अर्हन्त, अर्हन् या अर्हत् कहलाते हैं।[१] कर्म- शत्रु का हनन करने से 'अरिहन्त' सज्ञा भी है।[२] भावमोक्ष, केवलज्ञानोत्पत्ति, जीवन्मुक्त और अर्हत् ये सभी एकार्थ-वाचक है।[३] जैनधर्म के अनुसार ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्मों के क्षय के बाद केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान होने के बाद साधक 'केवली' कहलाता है। इसे ही अर्हत्, अर्हन्त, अरिहन्त जीवन्मुक्त आदि कहते है। इन्हे ही त्रिलोक-पूजित परमेश्वर कहा गया है।[४]

अर्हन्त के भेद

अपेक्षा भेद से अर्हन्त के दो प्रकार हैं – तीर्थङ्कर और सामान्य केवली। जिनके कल्याणक-महोत्सव मनाए जाते हैं, ऐसे अर्हन्त पद को प्राप्त विशेष पुण्यशाली आत्माओं को तीर्थङ्कर कहते हैं तथा कल्याणको से रहित शेष को सामान्य केवली (अर्हन्त) कहते है।

---

१ अरिहति णमोक्कार अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
अरिहति वदण-णमसणाणि अरिहति पूयसक्कार।
अरिहंति सिद्धिगमण अरहता तेण उच्चति।। –मू०आ० ५०५,५०६
अतिशयपूजार्हत्वद्वार्हन्त। –ध० १/१ १ १/४४/६
पञ्चमहाकल्याणरूपा पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते। –द्रव्यसग्रह, टीका ५०/२११/१ तथा देखिए। महापुराण ३३/१८६, नयचक्र (बृहद्) २७२

२ जर-वाहि जम्म-मरण चउगइगमण च पुण्णपाव च।
हंतूण दोसकम्मे दुउ णाणमय च अरहतो।। –बो०पा० ३०
रजहता अरिहति य अरहता तेण उच्चदे। ५०५
जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होन्ति।
हता अरिं च जम्म अरहता तेण वुच्चति।। –मू०आ० ५६१
तथा देखिए, धवला १/१ १ १/४२ ९

३ भावमोक्ष केवलज्ञानोत्पत्ति जीवन्मुक्तोऽर्हत्पदमित्येकार्थः।
–पचास्तिकाय, ता०वृ० १५०/२१६/१८

४ सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजित।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वर।। –हेम० निश्चयालङ्कार।

अर्हन्त के सात प्रकार भी गिनाए गए हैं – (१) पाँचों कल्याणको से युक्त तीर्थङ्कर (जो पूर्वजन्म में तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध करते हैं उनके पाँचों कल्याणक होते हैं), (२) तीन कल्याणको से युक्त तीर्थङ्कर (जो उसी जन्म में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध करके तद्भव मोक्षगामी होते हैं उनकी दीक्षा, तप और मोक्ष ये तीन या इनमें से दो कल्याणक होते हैं। ये विदेहक्षेत्र में होते हैं), (३) दो कल्याणको से युक्त तीर्थङ्कर, (४) सातिशय केवली (गन्धकुटीयुक्त केवली), (५) सामान्य केवली अथवा मूक केवली (जो उपदेश नहीं देते), (६) उपसर्ग केवली (जिनको उपसर्ग के बाद केवलज्ञान हो) और (७) अन्तकृत् केवली। इसी प्रकार अन्य अपेक्षा से तद्भस्थ केवली (जिस पर्याय में केवलज्ञान प्राप्त हुआ है उसी पर्याय में स्थित 'केवली') तथा सिद्धकेवली (सिद्ध जीव) ये भेद भी मिलते हैं।[1] केवली के मनोयोग न होने से केवल वचन और काययोग की प्रवृत्ति की अपेक्षा जीवन्मुक्त के सयोगकेवली (१३ वें गुणस्थानवर्ती) और अयोगकेवली (१४ वे गुणस्थानवर्ती) ये दो भेद प्रसिद्ध हैं। केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से जिसका अज्ञान विनष्ट हो गया है, जिसने केवल-लब्धि प्राप्तकर परमात्म-सज्ञा प्राप्त कर ली है, वह असहाय (स्वतन्त्र, निरावरण) ज्ञान और दर्शन से युक्त होने के कारण केवली, दो योगो से सहित होने के कारण 'सयोगी' तथा घातिकर्मों से रहित होने के कारण 'जिन' कहा जाता है। जो १८ हजार शीलो के स्वामी हैं, आस्रवो से रहित हैं, नूतन बंधने वाले कर्मरज से रहित हैं, योग से रहित हैं, केवलज्ञान से विभूषित हैं उन्हे अयोगी परमात्मा (अयोगी जिन) कहा जाता है।[2]

सिद्धों की भी 'अर्हन्त' संज्ञा

कर्मशत्रु के विनाश के प्रति दोनो (अर्हन्त और सिद्ध) मे कोई भेद न होने से धवला में सिद्धों को भी अर्हन्त (अरहन्त, अरिहन्त) कहा है– जिन्होंने घातिकर्म

१ क०पा०, जयधवला १/१.१.५/३११.

२ केवलणाण-दिवायर-किरणकलावप्पणासि अण्णाणो।
णवकेवल-लद्धुग्गमपाविय परमप्प-ववएसो।। २७
असहाय-णाण-दंसण-सहिओ वि हु केवली हु जोएण।
जुत्तो त्ति सजोइजिणो अणाइणिहणारिसे वुत्तो।। २८
सेलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसओ जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होई।। –पंचसंग्रह (प्राकृत) ३०.
तथा देखिए, गो०जीव० ६३-६५, द्रव्यसंग्रह टीका १३/३५.

को नष्ट करके केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को देख लिया है वे अरिहन्त हैं। अथवा घाति-अघाति आठो कर्मों को दूर कर देने वाले अरिहन्त हैं, क्योंकि अरि-हनन (कर्मशत्रु-विनाश) दोनो मे समान है।[१] जैसा कि कहा है– "अरि = शत्रु का नाश करने से 'अरिहत' यह सज्ञा प्राप्त होती है। समस्त दुःखो की प्राप्ति का निमित्तकारण होने से मोह को 'अरि' कहते हैं। ..... अथवा रज = आवरक कर्मों का नाश करने से 'अरिहन्त' यह सज्ञा प्राप्त होती है। .... अन्तराय कर्म का नाश शेष तीन कर्मों (मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण) के नाश का अविनाभावी है और अन्तराय कर्म के नाश होने पर चार अघातिया कर्म भी भ्रष्ट बीज के समान निःशक्त हो जाते है[२]।" अर्हन्तो और सिद्धो मे इसीलिए कथचिद् भेद और कथचिद् अभेद माना जाता है।

अर्हन्तों के छियालीस गुण[३]

शास्त्रो मे अर्हन्तो के जो ४६ गुण बतलाए गए हैं वे तीर्थङ्करो मे पाए जाते हैं, सभी अर्हन्तो मे नही। अर्हन्तो के ४६ गुण निम्न हैं :—

(क) चार अनन्त चतुष्टय– अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य— ये चार अनन्त चतुष्टयरूप गुण जीव के आत्मिक गुण (वास्तविक) हैं जो सभी अर्हन्तो मे नियम से हैं, परन्तु शेष निम्न ४२ बाह्यगुण भजनीय हैं (किसी मे हैं, किसी मे नही हैं)।

(ख) आठ प्रातिहार्य (इन्द्रजाल की तरह चमत्कारी गुण)– अशोक वृक्ष, सिर पर तीन छत्र, रत्नखचित सिंहासन, दिव्यध्वनिखिरनो,[४] दुन्दुभि-नाद, पुष्प-

---

१ खविदघादिकम्मा केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा अरहता णाम। अथवा, णिट्ठविदट्ठकम्माण घाइदघादिकम्माण च अरहते त्ति सण्णा, अरिहणण पदिदोण्ह भेदाभावादो।
　　　　—ध० ८/३ ४१/८९/२

२ अरिहननादरिहन्ता। अशेषदु खप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोह। . रजो हननाद्वा अरिहन्ता। . . . रहस्यमन्तराय तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता। —ध० १/ १ १ १/४२/९

३ तिलोयपण्णत्ति ४/९०५–९२३, जम्बूद्वीपपण्णत्ति १३/९३–१३०, दर्शनपाहुड टीका ३५/२८

४ तिलोयपण्णत्ति मे दिव्यध्वनि–खिरना' के स्थान पर 'भक्तियुक्तगणों द्वारा वेष्टित रहना लिखा है। वही।

वृष्टि, पृष्ठभाग में प्रभामण्डल तथा चौसठ चमरयुक्त होना। ये आठ प्रातिहार्य कहलाते हैं।

(ग) चौंतीस अतिशय (आश्चर्यजनक गुण)— जन्म के १०, केवलज्ञान के ११ तथा देवकृत (देव गति के देवकृत) १३ अतिशयों को मिलाकर कुल चौंतीस अतिशय होते हैं। तिलोयपण्णत्ति मे 'दिव्यध्वनि' (भाषाविशेष) नामक देवकृत अतिशय को केवलज्ञान के अतिशयों मे गिनाया है जिससे प्रसिद्ध अतिशयों के साथ केवलज्ञान और देवकृत अतिशयो मे अन्तर आ गया है। वस्तुतः दिव्यध्वनि अतिशय केवलज्ञान से सम्बन्धित है परन्तु देव उसे मनुष्यो की तत्तद् भाषारूप परिणमा देते हैं जिससे उसे देवकृत अतिशय भी माना जा सकता है।

(अ) जन्म के १० अतिशय (तीर्थङ्कर के जन्मसमय में स्वाभाविकरूप से उत्पन्न अतिशय)— १. पसीना न आना, २. निर्मल शरीर, ३. दूध के समान धवल (सफेद) रक्त, ४. वज्रवृषभनाराचसंहनन (जिस शरीर के वेष्टन = वृषभ, कीले=नाराच और हड्डियाँ = संहनन वज्रमय हों), ५. समचतुरस्र शरीर-संस्थान (शरीर का ठीक प्रमाण मे होना, टेढ़ा आदि न होना), ६. अनुपम रूप, ७. नृप-चम्पकपुष्प के समान उत्तम सुगन्ध को धारण करना, ८. एक हजार आठ उत्तम लक्षणो को धारण करना, ९. अनन्त बल और १०. हित-मित-प्रिय भाषण। ये जन्म से सम्बन्धित दश अतिशय हैं।

(ब) केवलज्ञान के ११ अतिशय (घातिया कर्मों के क्षय होने पर केवलज्ञान के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले अतिशय)— १. चारो दिशाओ मे एक सौ योजन तक सुभिक्षता, २. आकाशगमन, ३ हिंसा का अभाव, ४. भोजन का अभाव, ५. उपसर्ग का अभाव, ६. चारो ओर (सबकी ओर) मुख करके स्थित होना, ७. छायारहित होना, ८. निर्निमेष दृष्टि (पलक न झपकना), ९. समस्त विद्याओं का ज्ञान, १०. सजीव होते हुए भी नख और रोमों (केशों) का समान रहना (न बढ़ना न घटना) और ११. अठारह महाभाषायें, सात सौ क्षुद्रभाषायें तथा संज्ञी जीवों की जो समस्त अन्य अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक भाषायें हैं उनमें एक साथ (बिना कण्ठ-तालु आदि के व्यापार के) दिव्यध्वनि का खिरना।

(स) देवकृत १३ अतिशय (तीर्थङ्करों के माहात्म्य से देवों के द्वारा किए गए अतिशय)— १. संख्यात योजन तक वन का असमय में भी पत्र, फूल और फलों की वृद्धि से युक्त रहना, २. कंटक और रेत आदि से रहित सुखदायक वायु का

बहना, ३ पूर्व-वैरभाव को छोड़कर जीवो का मैत्रीभाव से रहना, ४ दर्पणतल के समान भूमि का स्वच्छ और रत्नमय हो जाना, ५ सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देवो के द्वारा सुगन्धित जल की वृष्टि करना, ६. फलो के भार से शालि, जौ आदि का नम्रीभूत होना, ७ सब जीवो का नित्य आनन्दित होना, ८ शीतल वायु का बहना, ९ कूप, तालाब आदि का निर्मल जल से पूर्ण होना, १०. धुआँ, उल्कापातादि से रहित होकर आकाश का निर्मल होना, ११. सभी जीवो को रोगादि की बाधाये न होना, १२ चार दिव्यधर्मचक्रो का होना और १३ चारो दिशाओ और विदिशाओ मे छप्पन स्वर्णकमल, एक पादपीठ और दिव्य विविध पूजन-द्रव्यो का होना। इन अतिशयो के द्वारा इन्द्रादि देव सख्यात योजन तक तीर्थङ्कर के चारो ओर का वातावरण मगलमय बना देते है।

अन्य अनन्त अतिशय और अर्हन्त के लिए स्थावर-प्रतिमा का प्रयोग

श्रीवृक्ष, शख आदि एक हजार आठ लक्षणो[1] और चौंतीस अतिशयो से युक्त जिनेन्द्र भगवान् जब तक विहार करते हैं तब तक उन्हे 'स्थावर-प्रतिमा' कहते हैं।[2] भगवान् के १००८ बाह्य लक्षणो को उपलक्षण मानकर उनमे सत्त्वादि अन्तरङ्ग लक्षणो से अनन्त अतिशय माने जा सकते हैं।[3]

अर्हन्त की अन्य विशेषतायें

अर्हन्त की अनेक विशेषताओ मे से कुछ विशेषताये निम्न हैं—

---

१ महापुराण २५/१००—२१७, १५/३७—४४, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग१, पृ० १३८.

२ विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठ सुलक्खणेहिं सजुत्तो।
चउतीस अइसयजुदो सा पडिया थावरा भणिया ।। —दर्शनपाहुड ३५

नोट- स्थावरप्रतिमा और जङ्गम-प्रतिमा ये दो भेद हैं। स्थावर (स्था— वरच्) का अर्थ है 'अचल' और जङ्गम (गम् + यङ् + अच्) का अर्थ है 'सचल या सजीव'। यहाँ अर्हन्त को स्थावर-प्रतिमा कहने का तात्पर्य मेरी दृष्टि से है उनका अबुद्धिपूर्वक स्वाभाविक तथा कमलासन पर स्थित रहते हुए चरणक्रमरहित विहार माना जाना है। विशेष के लिए देखें, बोधपाहुड ११—१२ तथा दर्शनपाहुड ३५ की टीकाएँ। (तथा देखें, अर्हन्त की विहारचर्या)।

३. यथा निशीचूर्णौ भगवता श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्र-संख्या बाह्यलक्षणसंख्याया उपलक्षणत्वेनान्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम्। एवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरिमितत्वमविरुद्धम्। —स्याद्वादमञ्जरी, १/८/४

१. **अठारह दोषों का अभाव**[1]— अर्हन्त भगवान् मे १. क्षुधा, २. तृषा, ३. भय, ४. रोष (क्रोध), ५ राग, ६. मोह, ७. चिन्ता, ८. जरा, ९. रोग, १०. मृत्यु, ११. स्वेद (पसीना), १२. खेद, १३. मद, १४. रति, १५ विस्मय, १६. निद्रा, १७. जन्म और १८. उद्वेग (अरति)— इन अठारह दोषो का अभाव होता है।

२. **परमौदारिक शरीर होने से कवलाहार और क्षुधादि परिषहों का अभाव**— परमौदारिक शरीर होने से भगवान् न तो कवलाहार करते हैं और न उन्हें क्षुधादि परिषह होते हैं।[2] मनुष्य का शरीर औदारिक कहलाता है। अर्हन्त मानुषी प्रकृति को अतिकान्त करके देवाधिदेव हो जाते हैं। उनका साधारण औदारिक शरीर नही होता है, अपितु केवलज्ञान होते ही परमौदारिक शरीर हो जाता है। आकार ज्यो का त्यो बना रहता है परन्तु परमाणु-वर्गणाएँ बदलकर विशुद्ध हो जाती हैं। हड्डी आदि के भी परमाणु बदल जाते हैं। भूख-प्यास आदि नही रहती। देवो और नारकियो के वैक्रियिक शरीर की तरह उनके शरीर पर कोई अस्त्रादि का प्रभाव भी नहीं पड़ता। दोषो का विनाश हो जाने से शुद्ध स्फटिक की तरह सात धातुओ से रहित तेजोमय शरीर हो जाता है। अतएव वे न तो कवलाहार (मुख से भोजन) करते हैं और न उन्हे क्षुधादि परिषह सताते हैं। शरीर मे कोई मैल न होने से उनके नख (हड्डी का मैल) और केश (रक्त का मैल) नही बढ़ते हैं। पूर्वशरीर के नख और केश पूर्ववत् बने रहते हैं। हाड़-मास से रहित अर्हन्त का परम-औदारिक शरीर आयुपूर्ण होने पर कपूर की तरह उड़ जाता है, परन्तु उसके पूर्वशरीर के नख और केश बच जाते हैं जिन्हें इन्द्र निर्जीव होने से क्षीरसागर मे डालते हैं। इसके अतिरिक्त उनके कार्मण और तैजस् शरीर भी, जिनका कर्मों के सद्भाव से अनादि-सम्बन्ध था, वे दोनों भी समस्त कर्मों का अभाव होने पर समाप्त हो जाते हैं। आहार न करने से मल-मूत्रादि भी नहीं होते

१. देखें, पृ. ५, टि. ३

२. केवलिनां भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भावात्।...... अस्मदादिवत्। परिहारमाह—— तद्भगवतः शरीरमौदारिकं न भवति किन्तु परमौदारिकम्- शुद्धस्फटिकसङ्काशं तेजोमूर्तिमयं वपुः। जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्। —प्र०सा०, ता०वृ०, २०/२८/७

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि देवता यतः।
तेन नाथ ! परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः।। —स्वयम्भूस्तोत्र ७५.

हैं। अर्हन्तो के जो ग्यारह परिषह कहे गए हैं वे उपचार से कहे गए हैं तथा उपचार का कारण है 'असातावेदनीय का उदय'। मोहनीय और अन्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से असातावेदनीय निष्क्रिय है तथा वह सातारूप परिणमन कर जाता है।[१] अर्हन्त के कवलाहार तो नही है, परन्तु नोकर्माहार होता है। अतः आहारक मार्गणा में 'आहार' शब्द से नोकर्माहार ही ग्रहण करना चाहिए, कवलाहार नहीं। किन्तु समुद्घात अवस्था मे नोकर्माहार भी नही होता है।[२]

३. अर्हन्तों में इन्द्रिय, मन, ध्यान, लेश्या आदि का विचार — पञ्चेन्द्रियजाति नामकर्म के उदय से अर्हन्तो के पाँच द्रव्येन्द्रियाँ मानी गई हैं, भावेन्द्रियाँ नही, क्योंकि भावेन्द्रियो की विवक्षा होने पर ज्ञानावरण का सद्भाव मानना पड़ेगा और तब उनमे सर्वज्ञता न बन सकेगी। अतः अर्हन्तो के द्रव्येन्द्रियो की अपेक्षा पञ्चेन्द्रियत्व तो है, परन्तु भावेन्द्रियो की अपेक्षा नही है। वस्तुतः उन्हे पञ्चेन्द्रिय कहना औपचारिक प्रयोग है।[३] इसी प्रकार अर्हन्त केवली के 'मन' भी उपचार

१. (क) चउविह उवसग्गेहिं णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो।
सुहपहुदिपरिसहेहिं परिचत्तो रायदोसेहिं।। —ति०प० १/५९.

(ख) मोहनीयोदयसहायाभावात्क्षुदादिवेदनाभावे परिषहव्यपदेशो न युक्तः। सत्यमेवमेतत् वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परिषहोपचारः क्रियते। —सर्वार्थसिद्धि ९/११/४२९/८

णट्ठा य रायदोसा, इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो।
तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं।। —गो०कर्म० २७३
समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणदि।। —गो.कर्म०२७४

२ (क) पडिसमयं दिव्वतमं जोगी णोकम्मदेहपडिबद्धं।
समयपबद्धं बंधदि गलिदवसेसाउमेत्तट्ठिदी ।। —क्षपणा० ६१८

अत्र कवललेपोष्ममनः कर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः, अन्यथाहारकालविरहाभ्यां सह विरोधात्। —ध०१/१ १.१७३/४०९/१०

(ख) अणाहारा . केवलीण वा समुग्घादगदाणं अजोगिकेवली . .. चेति। —षट्खण्डागम, १/१ १ १७७/४१०

कम्मग्गहणमत्थित्तं पडुच्च आहारित्तं किण्ण उच्चदि त्ति भणिदे ण उच्चदि, आहारस्स तिण्णिसमयविरहकालोवलद्धीदो। —ध० २/१ १/६६९/५.

णवरि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे।
णत्थि ति समये णियमा णोकम्माहारयं तत्थ ।। —क्षपणा० ६१९

३. पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः। —ध०१/१.१ ३९/२६४/२
अर्हं हि सयोगिकेवलिनोः पञ्चेन्द्रियत्वं द्रव्येन्द्रियं प्रति उक्तं, न भावेन्द्रियं प्रति। यदि,

से कहा गया है क्योंकि उनमें द्रव्यमन तो है, भावमन नहीं है।[1] द्रव्यमन सहित होते हुए भी केवली को 'संज्ञी' नहीं माना गया है, क्योंकि मन के आलम्बन से उनके बाह्य पदार्थों का ग्रहण नहीं होता है।[2] प्राणों की अपेक्षा सयोग केवली के चार अथवा दो प्राण माने गए हैं, द्रव्येन्द्रियो की अपेक्षा दस प्राण नहीं हैं। अयोग केवली के केवल 'आयु' प्राण होता है।[3] केवली के शुक्ल लेश्या। उपयोग तथा ध्यान भी औपचारिक ही है।[4] केवली के इच्छा का अभाव होने से उनकी विहार, धर्मदेशना आदि मे अबुद्धिपूर्वक स्वाभाविक प्रवर्तना मानी गई है।[5]

४. **केवली समुद्घात क्रिया** – कर्मों की स्थिति (ठहरने की काल-सीमा) और अनुभागबन्ध (रसपरिपाक) को घातने के लिए किया गया समीचीन उपक्रम 'केवली समुद्घात' है। जब आयु कर्म की अपेक्षा अन्य तीन अघातिया कर्मों की स्थिति

हि भावेन्द्रियमभविष्यत्, अपितु तर्हि असक्षीणसकलावरणत्वात् सर्वज्ञतैवास्य न्यवर्तिष्यत्।
—राजवार्तिक, १/३०/९/९१/१४

केवलिना पञ्चेन्द्रियत्व .. भूतपूर्वगतिन्यायसमाश्रयणाद्वा।
—ध. १/१ १ ३७/२६३/५.

१ अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात्।
—ध० १/१.१ ५०/२८६.

उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात्। —ध० १/१.१.५०/२८७.

मणसहियाण वयणं दिट्ठं तत्पुव्वमिदि सजोगम्हि।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्मि।। —गो०जीव० २२८.

२ तेषां क्षीणावरणानां मनोऽवष्टम्भबलेन बाह्यार्थग्रहणाभावतस्तदसत्त्वात्। तर्हि भवन्तु केवलिनोऽसंज्ञिन इति चेन्न, साक्षात्कृताशेषपदार्थानामसंज्ञित्वविरोधात्। —ध०, १/१.१.१७३/४०८

३ तम्हा सजोगिकेवलिस्स चत्तारि पाणा दो पाणा वा। —ध० २/१.१/४४४/६.
आउअ-पाणो एक्को चेव। —ध० २/१ १/४४५/१०

तथा देखिए, पर्याप्ति आदि के लिए, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ० १६४.

४. स०सि०, २/६/१६०/१; रा०वा० २/६/८/१०९/२९; रा०वा०, २/१०/५/१२५/८, रा०वा०, २/१०/५/१२५/१०; ध०, १/१.१.१२४/३७४/३; प्र०सा० ११७, ११८,

५. जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो। —नियमसार १७२.
तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते। —प्र०सा०, ता०वृ० ४४.

अधिक होती है तब केवली आयु कर्म की स्थिति और शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति को बराबर करने के लिए समुद्घात करते हैं। समुद्घात मे मूल शरीर को न छोड़कर मात्र तैजस् और कार्मणरूप शरीर के साथ जीवप्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं पश्चात् मूलशरीर मे उन जीवप्रदेशो का पुन समावेश होता है।[1]

५ **दिव्यध्वनि का खिरना**— केवलज्ञान होने के पश्चात् अर्हन्त भगवान् के सर्वाङ्ग से जो ओंकाररूप ध्वनि खिरती है उसे 'दिव्यध्वनि' कहते हैं। यह गणधर की उपस्थिति मे ही खिरती है, अनुपस्थिति मे नही। भगवान् मे इच्छा का अभाव होते हुए भी यह दिव्यध्वनि भव्य जीवो के पुण्य के प्रभाव से खिरती है। यह दिव्यध्वनि मुख से ही खिरती है या मुख के बिना खिरती है, ? भाषात्मक है या अभाषात्मक है? आदि के सम्बन्ध मे जो आपेक्षिक कथन मिलते है उनका नय की अपेक्षा से समाधान कर लेना चाहिए।[2]

६ **मृत शरीर-सम्बन्धी दो धारणाएँ तथा शरीर-मुक्त आत्मा की स्थिति**– आयु की पूर्णता होने पर मृतशरीर-सम्बन्धी दो मत पुराणो मे मिलते हैं जिनका स्वविवेक से समाधान अपेक्षित है।[3] इतना निश्चित है कि लोकाकाश की समाप्ति तक मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन होता है तथा मुक्तात्मा के प्रदेश न तो अणुरूप होते है और न सर्वव्यापक अपितु चरमशरीर से कुछ कम प्रदेश होते हैं।[4]

७ **विहारचर्या**[5]— केवली मे इच्छा का अभाव होने से उनका विहार अबुद्धिपूर्वक स्वाभाविक माना गया है। सम्पूर्ण केवलज्ञान-काल मे वे एक आसन

---

१ जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ १६६-१६९

२ वही, पृ० ४३०–४३३

३ **अर्हन्त के मृतशरीर-सम्बन्धी दो पौराणिक मत**— हरिवश पुराण मे आया है– 'दिव्य गन्ध, पुष्प आदि से पूजित तीर्थङ्कर आदि के मोक्षगामी जीवो के शरीर क्षणभर में बिजली की तरह आकाश को दैदीप्यमान करते हुए विलीन हो जाते हैं। (२) महापुराण (४७ ३४३–३५०) मे भगवान् ऋषभदेव के मोक्षकल्याणक के अवसर पर अग्निकुमार देवो ने भगवान् के पवित्र शरीर को पालकी मे विराजमान किया। पश्चात् अपने मुकुटो से उत्पन्न की गई अग्नि को अगरु, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यो से बढ़ाकर उसमे भगवान् के शरीर को समर्पित कर उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी। तदनन्तर भगवान् के शरीर की भस्म को उठाकर अपने मस्तक पर, भुजाओ पर, कण्ठ मे तथा हृदयदेश मे भक्तिपूर्वक स्पर्श कराया।

४ जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ३, पृ. ३२८, तथा देखे, सिद्धो का प्रकरण।

५ जिनसहस्रनाम (ज्ञानपीठ प्रकाशन) पृ. १६७, १८३

पर स्थित रहते हुए विहार, उपदेश आदि करते हैं। जिस एक हजार पांखुड़ी वाले स्वर्णकमल पर चार अंगुल ऊपर स्थित रहते हैं, वही कमलासन या पद्मासन है। वस्तुतः अर्हन्त भगवान् का गमन चरणक्रम-संचार से रहित होता है।[१] पैरों के नीचे कमलो की रचना देवकृत अतिशय है। स्तोत्र एवं भक्ति ग्रन्थों में इसी अतिशय का वर्णन मिलता है; जैसे–

हे जिनेन्द्र! आप जहाँ जहाँ अपने दोनो चरण रखते हैं वहाँ वहाँ ही देवगण कमलो की रचना कर देते हैं।[२]

सिद्ध (विदेहमुक्त)

सिद्धावस्था की प्राप्ति कब ?

चारो घातिया कर्मों के निर्मूल (पूर्णतः नष्ट) होने पर शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप (निश्चय-रत्नत्रयात्मक) जीवपरिणाम को 'भावमोक्ष' कहते हैं। जीवन्मुक्त अर्हन्त या भावमोक्ष-अवस्था को धारण करते हैं। भावमोक्ष के निमित्त से शेष चार अघातिया कर्मों के भी समूल नष्ट हो जाने पर (जीव से समस्त कर्म के निरवशेष रूप से पृथक् हो जाने पर) 'द्रव्यमोक्ष' होता है। यह द्रव्यमोक्ष की अवस्था ही 'सिद्धावस्था' है।[३] आयु के अन्त समय मे अर्हन्तों का परमौदारिक शरीर जब कपूर की तरह उड़ जाता है तथा आत्मप्रदेश ऊर्ध्वगति-स्वभाव के कारण लोकशिखर पर जा विराजते हैं, तभी सिद्धावस्था कहलाती है।

सिद्धों के सुखादि

सिद्ध अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुख में लीन रहते हैं। ज्ञान ही उनका शरीर होता है। वे न तो निर्गुण हैं और न शून्य। न अणुरूप हैं और न सर्वव्यापक, अपितु आत्मप्रदेशों की अपेक्षा चरम-शरीर (अर्हन्तावस्था का शरीर) के आकाररूप मे रहते हुए जन्म-मरण के भवचक्र से हमेशा के लिए मुक्त हो

---

१. प्रचारः प्रकृष्टोऽन्यजनासंभवो चरणक्रमसंचाररहितश्चारो गमनं तेन विजृम्भितौ विलसितौ शोभितौ। –चैत्यभक्ति, टीका, १.

२ पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः, पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।। –भक्तामरस्तोत्र ३६ तथा देखिए, स्वयम्भूस्तोत्र १०८, हरिवंशपुराण, ३/२४, एकीभावस्तोत्र ७.

३. कर्मनिर्मूलनसमर्थः शुद्धात्मोपलब्धिरूपजीवपरिणामो भावमोक्षः, भावमोक्षनिमित्तेन जीव-कर्मप्रदेशाना निरवशेषः पृथग्भावो द्रव्यमोक्ष इति। –पं०का०, ता०वृ० १०८/१७३/१०, भ०आ० ३८/१३४/१८; नयचक्र बृहत् १५९

जाते हैं। सिद्धत्व जीव का स्वाभाविकभाव है। जितने जीव सिद्ध होते हैं उतने ही जीव निगोदराशि से निकलकर व्यवहारराशि में आ जाते हैं जिससे लोक कभी भी जीवों से रिक्त नहीं होता है।[१]

चैतन्यमात्र ज्ञानशरीरी– सिद्ध न तो चैतन्यमात्र हैं और न जड़, अपितु ज्ञानशरीरी (सर्वज्ञ) हैं[२]। सकल कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा न तो न्यायदर्शन की तरह (ज्ञानभिन्न) जड़ होता है और न सांख्यदर्शन की तरह चैतन्यमात्र, अपितु आत्मा के ज्ञानस्वरूप होने से वह 'ज्ञानशरीरी' (सर्वज्ञ) हो जाता है तथा ज्ञान के अविनाभावी सुखादि अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न हो जाता है।

सिद्धों का स्वरूप

सिद्धो के स्वरूप के सम्बन्ध मे निम्न तीन उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

१ 'जो आठो प्रकार के कर्मों के बन्धन से रहित, आठ महागुणो से सुशोभित, परमोत्कृष्ट, लोकाग्र में स्थित और नित्य हैं, वे सिद्ध हैं।[३]

२ 'जो आठ प्रकार के कर्मों से रहित, अत्यन्त शान्तिमय, निरञ्जन, नित्य, आठ गुणो से युक्त, कृतकृत्य तथा लोकाग्र मे निवास करते हैं, वे सिद्ध हैं। यहाँ जन्म, जरा, मरण, भय, सयोग, बियोग, दुःख, रोग आदि नही होते।'[४]

३ 'जो आठ कर्मों के हन्ता, त्रिभुवन के मस्तक के भूषण, दुःखो से रहित, सुखसागर मे निमग्न, निरञ्जन, नित्य, आठ गुणो से युक्त, निर्दोष, कृतकृत्य, सर्वाङ्ग से समस्त पर्यायो सहित समस्त पदार्थों के ज्ञाता, वज्रशिलानिर्मित

---

१ मुक्तिगतेषु तावन्तो जीवा नित्यनिगोदभव त्यक्त्वा चतुर्गतिभव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः।
—गो०जी०, जी०प्र०/१९७/४४१/१५, तथा देखिए, पृ० २३, टि० ३

२. सकलविप्रमुक्त सन्नात्मा समग्रविद्यात्मवपुर्भवति न जडो, नापि चैतन्यमात्ररूपः।
—स्वयम्भूस्तोत्र, टीका ५/१३

३ णट्ठट्ठकम्मबधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।। —नि०सा० ७२

४ अट्ठविहकम्मवियडा सीदीभूदा णिरजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा कयकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।। —गो०जी० ६८
तथा देखिए, प०स०,प्रा० ३१
जाइ-जरा-मरणभया सजोय-विओयदुक्खसण्णाओ।
रोगादिया य जिस्से ण होंति सा होइ सिद्धगई।। —प०स०,प्रा०,६४

अमलन-प्रतिमा के समान अभेद्य आकार से युक्त तथा सब अवयवों से पुरुषाकार होने पर भी गुणों में पुरुष के समान नहीं हैं, क्योंकि पुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को भिन्न देश से जानता है, परन्तु जो प्रतिप्रदेश से सब विषयों को जानते हैं, वे सिद्ध हैं'।[1]

सिद्धों के प्रसिद्ध आठ गुण

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अभाव से सभी सिद्धो मे निम्न आठ गुण प्रकट हो जाते हैं। इनमें प्रथम चार गुण (जीव के अनुजीवी गुण) घातिया कर्मों के अभाव से पहले ही जीवन्मुक्त अवस्था मे प्रकट हो जाते हैं तथा शेष चार गुण (जीव के निज गुण) अघातिया कर्मों के नष्ट होने पर प्रकट होते हैं। जैसे– १. क्षायिक सम्यक्त्व (मोहनीय कर्म-क्षयजन्य), २. अनन्तज्ञान (ज्ञानावरणीय कर्मक्षयजन्य), ३ अनन्तदर्शन (दर्शनावरणीय कर्मक्षयजन्य), ४ अनन्तवीर्य (अन्तरायकर्म-क्षयजन्य), ५ सूक्ष्मत्व (अमूर्तत्व = अशरीरत्व; नामकर्म से प्रच्छादित गुण), ६. अवगाहनत्व (जन्म-मरणरहितता, आयुकर्म-क्षयजन्यगुण), ७ अगुरुलघुत्व (अगुरुलघुसंज्ञक गुण जो नामकर्म के उदय से ढका रहता है या गोत्रकर्म-क्षयजन्य ऊँच-नीचरहितता) और ८ अव्याबाधत्व (वेदनीयकर्म-क्षयजन्य अनन्त सुख= इन्द्रियजन्य सुख-दु खाभाव)।[2] यहाँ इतना विशेष है कि एक-एक कर्मक्षय-जन्यगुण का यह कथन प्रधानता की दृष्टि से है, क्योंकि अन्यकर्मों का क्षय भी आवश्यक है। वस्तुतः आठो ही कर्म समुदायरूप से एक सुख गुण के विपक्षी है, कोई एक पृथक् गुण उसका विपक्षी नही है।[3] सुख का हेतु स्वभाव-प्रतिघात

---

१ णिहयविविहट्ठकम्मा तिहुवणसिरसेहरा विहुवदुक्खा।
सुहसायरमज्झगया णिरंजणा णिच्च अट्ठगुणा।।२६
अणवज्जा कयकज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा।
वज्जसिलत्थब्भग्गय पडिमं वाभेज्ज सठाणा।।२७
माणुससंठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा।
सव्विंदियाण विसयं जमेगदेसे विजाणंति।।२८

—ध० १/१.१ १/२६-२८.

२ सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरिय-सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।। —लघु सिद्धभक्ति ८
तथा देखिए— वसुनंदि श्रावकाचार ५३७, पंचाध्यायी/उ० ६१७-६१८, परमात्मप्रकाश टीका १/६१/६२/१

३ कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च।
अस्ति किंचिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक्।। —पं०अ०, उ० ११९४

का अभाव है।[१] अभेद-दृष्टि से जो केवलज्ञान है, वही सुख है और परिणाम भी वही है। उसे दुःख नहीं है क्योंकि उसके घातिया कर्म नष्ट हो गए हैं।[२]

प्रकारान्तर से सिद्धों के अन्य अनन्त गुण

द्रव्यसग्रह की ब्रह्मदेवरचित सस्कृत टीका में कहा है कि सम्यक्त्वादि सिद्धों के आठो गुण मध्यमरुचि वाले शिष्यो के लिए हैं। विशेषभेदनय के आलम्बन से गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहितता, नामरहितता, गोत्ररहितता, आयु रहितता आदि निषेधपरक विशेष गुण तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि विधिपरक सामान्यगुण आगम के अविरोध से अनन्त गुण जानना चाहिए।[३] वस्तुत ससार मे कर्मोदय से अनन्त अवगुण होते हैं और जब कर्मोदय नही रहता तो उनका अभाव ही अनतगुणपना है। भगवती आराधना आदि मे अकषायत्व, अवेदत्व, अकारत्व, देहराहित्य, अचलत्व और अलेपत्व ये सिद्धों के आत्यन्तिक गुण कहे हैं।[४]

धवला मे आया है कि सिद्धो के क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान और दर्शन (अन्तरायाभावजन्य अनन्तवीर्य को छोड़कर तीन) गुणो मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार गुणा करने पर बारह गुण होते हैं।[५]

अन्तरायाभाव को गुणरूप न मानकर लब्धिरूप माना गया है। अत ऊपर तीन क्षायिक गुण लिए हैं। अन्तराय कर्म के अभाव मे अनन्तवीर्य के स्थान पर धवला मे क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक-उपभोग और क्षायिकवीर्य ये पाँच क्षायिकलब्धिरूप गुणो का उल्लेख भी मिलता है।[६]

---

१ स्वभावप्रतिघाताभावहेतुक हि सौख्यम्। –प्र०सा०/त०प्र०/६१

२ जं केवल ति णाण त सोक्ख परिणाम च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खय जादा।। –प्र०सा० ६०

३ इति मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया स्वागमविरोधेनानन्ता ज्ञातव्या।
–द्र०स०, टीका १४/४३/६

४ अकसायमवेदत्तमकारकदाविदेहदा चेव।
अचलत्तमलेपत्त च हुति अच्चतियाइ से।। –भ०आ० २१५७
तथा देखिए, ध० १३/५ ४ २६ गा० ३१/७०

५ द्रव्यत क्षेत्रतश्चैव कालतो भावतस्तथा।
सिद्धाग्रगुणसयुक्ता गुणा द्वादशधा स्मृता।। –ध० १३/५.४ २६/गा० ३०/६९

६ धवला, ७/२ १.७ गा० ४-११/१४-१५

सिद्धों में औपशमिकादि भावों का अभाव

क्षायिक भावों में केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व भावों को छोड़कर सिद्धो मे औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औदयिकभाव तथा भव्यत्व नामक पारिणामिक भावो का अभाव होता है।[१] सिद्धो में सभी कर्मों का अभाव (क्षय) होने से औपशमिकादि भावों का प्रश्न ही नही होता, क्योंकि वे तो कर्मों के सद्भाव मे ही सम्भव हैं।[२] पारिणामिक भावो मे भी अभव्यत्व भाव का पहले से अभाव रहता है क्योंकि सिद्ध होनेवाले मे भव्यत्वभाव रहता है, अभव्यत्व नही। सिद्ध हो जाने के बाद भव्यत्व (भवितु योग्यः भव्यः-भविष्य मे सिद्ध होने की योग्यता) भाव का भी अभाव हो जाता है। पारिणामिक भावों मे अब बचा केवल जीवत्व भाव जो सदा रहता है। यहाँ इतना विशेष है कि सिद्धो मे जीवत्वभाव दशप्राणो की अपेक्षा से नहीं है, अपितु ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा शुद्ध जीवत्व भाव है, क्योंकि सिद्धो मे कर्मजन्य दशप्राण नही होते हैं।

संयतादि तथा जीवत्व आदि

क्षायोपशमिकादि भावो से जन्य इन्द्रियादि का अभाव होने से इन्द्रियव्यापारजन्य ज्ञान-सुखादि भी नही रहता।[३] अतएव वे न संयत हैं, न असयत, न सयतासयत, न सज्ञी और न असज्ञी।[४] सिद्धो मे दस प्राणो का अभाव होने से वे 'जीव' भी नही हैं, उन्हे उपचार से 'जीव' या 'जीवितपूर्व' कहा जा सकता है[५]। इस सन्दर्भ मे

---

१ औपशमिकादिभव्यत्वाना च। अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।
—त०सू० १०/३-४, तथा वही सर्वार्थसिद्धि टीका।

२ न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति तस्य क्षायिकभावेनापसारितत्वात्।
—ध० १/१.१ ३३/२४८/११

३ ण वि इंदियकरणजुदा अवग्गहादीहिगाहिया अत्थे।
णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंत-णाणसुहा।।
—ध० १/१.१.३३/गा० १४०/२४८

४. सिद्धाना कः संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि। यथा बुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावान्न संयतास्तत एव न संयतासंयताः, नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात्।—ध० १/१ १.१३०/३७८/८.

५. तं च अजोगिचरमसमयादो उवरि णत्थि, सिद्धेसु पाणणिबंधणट्ठकम्माभावादो। तम्हा सिद्धा ण जीवा जीविदपुव्वा इदि। सिद्धाणं पि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे। ण, उवयारस्स सच्चत्ताभावादो। सिद्धेसु पाणाभावण्णहाणुववत्तीदो जीवत्तं ण पारिणामियं किंतु कम्मविवागजं।
—ध. १४/५.६.१६/१३/३

राजवार्तिककार भावप्राणरूप ज्ञानदर्शनादि की अपेक्षा तथा रूढि की अपेक्षा सिद्धों में मुख्यजीवत्व नामक पारिणामिक भाव ही स्वीकार करते हैं।[१]

सिद्धों की अवगाहना आदि

आत्म-प्रदेशो मे व्याप्त होकर रहने का नाम है 'अवगाहना' अर्थात् ऊचाई-लम्बाई आदि आकार। सिद्धो की अवगाहना चरमशरीर से कुछ कम होती है। चरमशरीर की अवगाहना तीन प्रकार की सम्भव है— जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम। जघन्य अवगाहना कुछ कम साढे तीन अरत्नि, उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष तथा मध्यम अवगाहना दोनो के मध्य की होने से अनेक भेद वाली है।[२] नामकर्म के अभाव से शरीर के अनुसार होने वाला आत्मप्रदेशो का सकोच-विस्तार नही होता है। अत सिद्ध न अभावरूप हैं, न अणुरूप और न सर्वलोकव्यापी। शरीर न होने से शरीरकृत बाह्यप्रदेशो को कम करके पूर्वशरीर (चरमशरीर) से कुछ कम व्यापक सिद्धात्माओ को माना गया है।[३] सिद्ध जीव

---

१ तथा सति सिद्धानामपि जीवत्व सिद्ध जीवितपूर्वत्वात्। सम्प्रति न जीवन्ति सिद्धा भूतपूर्वगत्या जीवत्वमेषामौपचारिकत्व मुख्य चेष्यते, नैष दोष, भावप्राणज्ञानदर्शनानुभवनात्, साम्प्रतिकमपि जीवत्वमस्ति। अथवा रूढिशब्दोऽयम्। रूढो वा क्रिया व्युत्पत्त्यर्थें वेति कादाचित्क जीवनमपेक्ष्य सर्वदा वर्तते गोशब्दवत्। —रा.वा. १/४/७/२५/२७

२ आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनम्। तद्द्विविधम् उत्कृष्टजघन्यभेदात्। तत्रोत्कृष्ट पञ्चधनु-शतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि। जघन्यमर्धचतुर्थारत्नयो देशोना। मध्ये विकल्पा। एकस्मिन्नवगाहे सिद्धयति। —स०सि० १० ९/४७३/११ तथा देखिए, —रा.वा. १० ९/१०/६४७/१५

एकस्मिन्नवगाहे सिद्धयन्ति पूर्वभावप्रज्ञापन-नयापेक्षया। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापने तु एतस्मिन्नेव देशोने। —रा.वा. १० ९/१०/६४७/१९

किंचूणा चरम—देहदो सिद्धा। तत् किञ्चिदूनत्व शरीराङ्गोपाङ्गजनितनासिकादिछिद्राणामपूर्णत्वे सति०। —द्रव्यसग्रह, टीका १४/४४/२

३ वही,

स्यान्मत, यदि शरीरानुविधायी जीव तदभावात्स्वाभाविकलोकाकाश प्रदेशपरिमाणत्वाता-वद्विसर्पण प्राप्नोतीति। नैवदोष। कुत.? कारणाभावात्। नामकर्मसम्बन्धो हि सहरणविसर्पणकारणम्। तदभावात्पुन सहरणविसर्पणाभाव।

—स०सि० १०.४/४६९/२

तथा देखिए, राजवार्तिक १०/४/१२-१३/६४३/२७

अनाकारत्वान्मुक्तानामभाव इति चेन्न, अतीतानन्तशरीराकारत्वात्। —स०सि० १०/४/४६८/१३

पुरुषाकार छायावत् अथवा मोमरहितमूषक के आकार की तरह होते हैं तथा लोक के शिखर पर स्थित होते हैं। मनुष्यलोकप्रमाण तनुवात के उपरिम भाग में सभी सिद्धों के सिर एक सदृश होते हैं, परन्तु अधस्तन भाग मे अवगाहना के हीनाधिक सम्भव होने से विसदृश भी होते हैं।[1] एक ही क्षेत्र में कई सिद्ध रह सकते हैं, क्योंकि वे अरूपी हैं, सूक्ष्म हैं। अतएव वे किसी को रोकते भी नही हैं। सिद्धात्मा निश्चयनय से अपने में ही रहते हैं।[2]

संसार में पुनरागमन आदि का अभाव

जिस प्रकार बीज के पूर्णतया जल जाने पर उसमे पुनः अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के दग्ध हो जाने पर ससाररूपी अङ्कुर उत्पन्न नही होता। जगत् के प्रति करुणा आदि भी नही होती, क्योंकि वे वीतरागी हैं। गुरुत्व आदि न होने से उनके पतन की भी कोई सम्भावाना नही हैं।[3]

---

१ जावद्धम्म दव्वं ताव गंतूण लोयसिहरम्मि।
चेट्ठन्ति सव्वसिद्धा पुह पुह गयसित्थमूसगब्भणिहा।। —ति०प०, ९/१६
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएहि लोयसिहरत्थो। —द्र०स० ५१
गत सिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकार। —वही, टीका
माणुसलोयपमाणे सठिय तणुवादउवरिमे भागे।
सरिसा सिरा सव्वाण हेट्ठिमभागम्मि विसरिसा केई।। —ति०प० ९/१५

२ लोकस्याग्रे व्यवहरणत सस्थितो देवदेवः।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते।। —नियमसार, ता०वृ० १७६ क २९४

३ भगविहीणो य भवो सभवपरिवज्जिदो विणासो हि। —प्र०सा० १७
पुनर्बन्धप्रसगो जानत पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्, न, सर्वास्रवपरिक्षयात्।... भक्तिस्नेहकृपास्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते सन्तीति। अकस्मादिति चेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्ग. . .मुक्तिप्राप्त्यनन्तरमपि बन्धोपपत्ते। स्थानवत्त्वात्पात इति चेत्, न, अनास्रवत्वात्। आस्रवतो हि पानपात्रस्याधःपतनं दृश्यते, न चास्रवो मुक्तस्यास्ति। गौरवाभावाच्च। . ... यस्य हि स्थानवत्त्वं पातकारण तस्य सर्वेषां पदार्थानां (आकाशादीना) पातः स्यात् स्थानवत्त्वाविशेषात्।

—राजवार्तिक १०/४ /४-८/६४२-२७

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः।।—रा०वा०१०/२/३/६४१/६ पर उद्धृत।
ण य ते संसारे णिवदंति णट्ठासवतादो। —ध० ४/१.५ ३१०/४७७/५
सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीओ।
एति अणाइवणस्सइ रासीओ तित्तआ तम्मि।।२
इति वचनात्, यावन्तश्च यतो मुक्तिं गच्छन्ति जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोदवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति। —स्याद्वादमञ्जरी २९/३३१/१३ पर उद्धृत।

सिद्धों में परस्पर अपेक्षाकृत भेद

स्वरूपत सिद्धो मे कोई भेद नही है, परन्तु पूर्वकालिक क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक-बोधित, बुद्ध-बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, सख्या और अल्पबहुत्व की अपेक्षा सिद्धो मे उपचार से भेद बतलाया गया है।[१]

अर्हन्त और सिद्ध में कथंचिद् भेदाभेद

सभी आठो कर्मों को नष्ट करने वाले सिद्ध होते हैं तथा चार घातिया कर्मों (मोहनीय,अन्तराय, दर्शनावरणीय और ज्ञानावरणीय) को नष्ट करने वाले अर्हन्त होते है। यही दोनो मे भेद है। चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर अर्हन्तो मे आत्मा के सभी गुण प्रकट हो जाते हैं। अत अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठियो मे गुणकृत भेद नही है। अर्हन्तो के अवशिष्ट अघातिया कर्म (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) जो शरीर से सम्बन्ध रखते है, आत्मगुणो का घात नही करते हैं। आयुकर्म के शेष रहने के कारण उन्हे ससार मे रहना पडता है परन्तु उन्हे सासारिक दुख नही होते है। सिद्धो की अपेक्षा अर्हन्तो को णमोकार मन्त्र मे पहले नमस्कार इसलिए किया है, क्योंकि उनके उपदेश से ही हमे धर्म का स्वरूप ज्ञात होता है। उन दोनो मे सलेपत्व (अर्हन्त), निर्लेपत्व (सिद्ध) तथा देश-भेदादि की अपेक्षा भेद है।[२]

---

१ क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसख्याल्पबहुत्वत साध्या।

—त०सू० १०.९

२ सिद्धानामर्हता च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माण सिद्धा नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्त इति तयोर्भेद। नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदयसत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तित आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्वसिद्धे। तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य ससारस्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातन-सामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न, आयुष्य-वेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमन-सुखप्रतिबन्धकयो सत्वात्। नोर्ध्वगमनमात्मगुणस्तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात्। सुखमपि न गुणस्तत एव। न वेदनीयोदयो दुखजनक केवलिनि केवलित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात्। किन्तु सलेपनिर्लेपत्वाभ्या देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम्।

—ध०, १/१ १ १/४६/२

उपसंहार

इस तरह सच्चे देव (परमात्मा) वही हैं जिन्होंने अपने वीतरागी भाव से चारों घातिया कर्मों अथवा घातिया और अघातिया समस्त आवरक कर्मों का क्षय करके शुद्ध आत्मारूप को प्राप्त कर लिया है। वीतरागी होने से ही वे पूज्य हैं तथा आदर्श हैं। ऐसे वीतरागी देव मुख्यरूप से दो प्रकार के हैं–

(१) **अर्हन्त (सशरीरी, जीवन्मुक्त)**– जिन्होने चारों घातिया कर्मों का तो पूर्णतः क्षय कर दिया है परन्तु आयुकर्म शेष रहने के कारण चारो अघातिया कर्मों का क्षय नही किया है। आयु की पूर्णता होते ही जो इसी जन्म मे अवशिष्ट सभी अघातिया कर्मों का नियम से क्षय करेगे ऐसे 'भावमोक्ष' वाले जीव सच्चे देव हैं। इनसे ही हमे धर्मोपदेश प्राप्त होता है। अतएव णमोकार मत्र मे णमो अरिहताण कहकर सर्वप्रथम इन्ही को नमस्कार किया गया है। यद्यपि ये अभी ससार मे हैं परन्तु इन्हे सासारिक कोई बाधा नही है। ये अपेक्षाभेद से तीर्थङ्कर, मूक-केवली आदि भेद वाले होते हैं परन्तु अनन्त-चतुष्टय से सभी सम्पन्न हैं। ये परम-औदारिक शरीर वाले होते है। इनकी अकालमृत्यु नहीं होती। भोजन आदि नही करते। नख, केश नही बढ़ते। पसीना, मल, मूत्र आदि मल भी नही होता।

(२) **सिद्ध (विदेहमुक्त)**– आठो कर्मों के क्षय से जब शरीर भी नही रहता तो उसे सिद्धावस्था कहते हैं। ये ऊर्ध्वलोक मे लोकाग्र मे पुरुषाकार छायारूप मे स्थित हैं। इनका पुनः ससार मे आगमन नही होता है। इनकी अवगाहना चरमशरीर से कुछ कम होती है। 'णमो सिद्धाण' कहकर इन्ही को नमस्कार किया गया है। ये सच्चे परमदेव हैं। इस अवस्था को ससारी भव्यजीव वीतरागभाव की साधना से प्राप्त कर सकते हैं। इनकी आराधना से ससार के प्राणियों को मार्गदर्शन मिलता है। यदि ससार के प्राणी इनके अनुसार आचरण करते हैं तो वे भी कर्मक्षय करके सच्चे देव बन जाते हैं। इस तरह जैनधर्म में स्वीकृत आराध्यदेव साक्षात् कृपा आदि न करते हुए भी जगत् के लिए परमकल्याणकारी हैं।

इनके अतिरिक्त जो देवगति के देव हैं वे संसारी जीव हैं और कर्मों से आवृत्त हैं। देवगति के देवों मे लौकान्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि के कुछ वैमानिक देव तो सम्यग्दृष्टि होने से मोक्षगामी हैं। परन्तु भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव और देवियाँ मिथ्यादृष्टि होने से सर्वथा अपूज्य हैं। अतः कल्याणार्थी को क्षेत्रपालादि देवों और पद्मावती आदि देवियों की जिनेन्द्रदेववत् पूजा नहीं करनी चाहिए। ये देव और देवियाँ इन्द्र के परिचारक-परिचारिकाएँ है जो इन्द्र के

आदेश से जिन-भक्तो की रक्षा आदि करते हैं। अत: इनमे वात्सल्य भाव तो रखा जा सकता है, सच्चे देवत्व का भाव नही। इन देव-देवियो की पूजा करने से रागभाव बढ़ता है, वीतरागभाव नहीं। इनसे सासारिक लाभ की कथंचित् आशा तो की जा सकती है, मुक्ति की नही। सांसारिक लाभ की आशा से किया गया समस्त प्रयत्न संसार-बन्धन का कारण है। इनका स्थान जिन-मन्दिर के बाहर रक्षक के रूप मे होना चाहिए और उनके प्रति हमारा रक्षक के रूप मे वात्सल्यभाव होना चाहिए। अतएव सच्चे अर्हन्त और सिद्ध देव ही ससार-मुक्ति के लिए आराध्य हैं।

यहाँ इतना और जानना आवश्यक है कि जैनधर्म मे स्वीकृत देवाधिदेव ईश्वर (अर्हन्त और सिद्ध) न्यायदर्शन की तरह न तो जगत् की सृष्टि करते है, न उसका पालन-पोषण करते हैं और न सहार क्रिया करते हैं क्योंकि वे पूर्णत: वीतरागी हैं। यदि आराध्य ईश्वर मे ऐसी क्रियाये मानी जायेंगी तो वह संसारी प्रशासको की तरह राग-द्वेष भाव युक्त होगा। ऐसा सरागी ईश्वर मुक्ति के लिए हमारा आराध्य नही हो सकता है। जैनधर्म मे ईश्वर की आराधना करके भक्त न तो उनसे कुछ मागता है और न ईश्वर उसे कुछ देता है परन्तु भक्त ईश्वर के गुणो का चिन्तन करके तद्वत् बनने का प्रयत्न करता है। अच्छे चिन्तवन के परिणाम स्वरूप भक्त के आत्म-परिणामो मे निर्मलता आती है, कर्मक्षयादि होते हैं और उसे अनुकूल फलोपलब्धि होती है। इससे हमे यह भी ज्ञात होता है कि हम भी कर्मक्षय करके, अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को जानकर अर्हन्त-सिद्ध हो सकते हैं।

णमो अरिहंताणं।

णमो सिद्धाणं।।

●

द्वितीय अध्याय

शास्त्र (आगम-ग्रन्थ)

शास्त्र का अभिप्राय

'शास्त्र' शब्द का सामान्य अर्थ है– 'ग्रन्थ'। विभिन्न विषयो से सम्बन्धित ग्रन्थों (पुस्तको) को विभिन्न नामों से जाना जाता है। जैसे— अर्थशास्त्र, काव्यशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, छन्दशास्त्र, निमित्तशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि। ये सभी लौकिक या भौतिक शास्त्र हैं। इनसे भिन्न जो अध्यात्मशास्त्र हैं, वे ही यहाँ विचारणीय हैं। इन अध्यात्मशास्त्रो में भी जो प्रामाणिक हैं उन्हें 'आगम' कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान् के उपदेश के पश्चात् आचार्य-परम्परा से प्राप्त (आगत) उपदेश (मूल सिद्धान्त) को 'आगम' कहते हैं अर्थात् पूर्वोक्त अर्हन्त देव के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ 'आगम' कहलाते हैं। सर्वज्ञ का उपदेश होने से प्रामाणिक हैं और जो उनके उपदेश के अनुकूल न हो वे अप्रामाणिक हैं। प्रारम्भ में ये अलिखित थे और कर्ण-परम्परा से सुनकर याद रखे जाते थे। अतः इन्हे 'श्रुत' और इनके ज्ञाता को 'श्रुतज्ञ' या 'श्रुतकेवली' कहा जाता है। सूत्रात्मक शैली मे निबद्ध होने से इन्हे 'सूत्र' भी कहा जाता है।

इतिहास

प्रारम्भ में जैनागम यद्यपि बहुत विस्तृत था परन्तु कालान्तर मे कालदोष के कारण इसका अधिकाश भाग नष्ट हो गया है। इतिहास-सम्बन्धी विवेचन निम्न प्रकार है–

शब्दों की अपेक्षा भावों का प्राधान्य

आगम की सार्थकता उसकी शब्दरचना के कारण नही है। अतएव शब्द-रचना को उपचार से आगम कहा गया है। शब्दों के अर्थ क्षेत्र, काल आदि के अनुसार बदलते रहते हैं, परन्तु भावार्थ वही रहता है। इसलिए शब्द बदलने पर भी भाव की अपेक्षा आगम को अनादि कहा है। वह पक्षपातरहित वीतरागी गुरुओं के द्वारा प्रणीत होने से पूर्वापरविरोधरहित एवं प्रामाणिक है। शब्द-रचना की दृष्टि से यद्यपि आगम पौरुषेय (पुरुष-प्रणीत) है, परन्तु अनादिगतभाव की अपेक्षा

अपौरुषेय है। जैनागमो की रचना प्राय सूत्रो मे हुई है। पश्चात् अल्पबुद्धि वालों के लिए उनके भावो को स्पष्ट करने के लिए टीकाये आदि लिखी गईं जो मूलसूत्रों के भावार्थ का प्रतिपादन करने के कारण प्रामाणिक हैं। यहाँ इतना विशेष है कि जो ग्रन्थ अनेकान्त और स्याद्वाद आदि सिद्धान्तो के अनुसार वीतरागता का अथवा रत्नत्रय आदि का प्रतिपादन करते हैं वे ही प्रामाणिक हैं, अन्य नही। शास्त्रकार ने जिस बात को जिस सन्दर्भ मे कहा है, हमे उसी सन्दर्भ की दृष्टि से अर्थ करना चाहिए, अन्यथा मूलभावना (मूलसिद्धान्त) का हनन होगा, जो इष्ट नही है।

भगवान् की वाणी

भगवान् की वाणी ओंकाररूप=निरक्षरी (शब्दो से बधी नही, क्योकि अनन्त पदार्थो का कथन अक्षरात्मक वाणी से सम्भव नही है) रही है जो सर्वसामान्य होते हुए भी गणधर मे ही उसे सही समझने की योग्यता (ज्ञान-क्षयोपशम) मानी गई है। अत अर्हन्त भगवान् की वाणी गणधर की उपस्थिति मे ही खिरती है। चार ज्ञानो के धारी गणधर उसे ज्ञानरूप से जानकर आचाराङ्ग आदि शास्त्रो के रूप मे रचना करते है।

मूलसंघ में बिखराव[१]

भगवान् महावीर के निर्वाण के ६२ वर्ष बाद तक गौतम (इन्द्रभूति), सुधर्मा और जम्बू ये तीन गणधर केवली हुए है। इन तीन केवलियो के बाद केवलज्ञानियो की परम्परा व्युच्छिन्न हो गई। पश्चात् ११ अग और १४ पूर्वों के ज्ञाता पूर्णश्रुतकेवलियो की परम्परा अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु प्रथम (वी नि स १०० वर्ष या १६२ वर्ष) तक चली। अर्थात् भद्रबाहु तक पाँच श्रुतकेवली हुए। इसके बाद क्रमिक ह्रास होते हुए ग्यारह आचार्य ग्यारह अग और दशपूर्वधारी हुए। इसके बाद पाँच आचार्य ग्यारह अगधारी हुए। तदनन्तर कुछ आचार्य दश, नौ और आठ अगो के धारी हुए। इस क्रम मे भद्रबाहु द्वितीय (वी.नि ४९२) और उनके शिष्य लोहाचार्य हुए। इस तरह लोहाचार्य तक यह श्रुत-परम्परा चली। इसके बाद अगो या पूर्वों के अशमात्र के ज्ञाता रहे। यह अगाशधर या पूर्वांशविद् की परम्परा अर्हद्बलि (गुप्तिगुप्त), माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि (वी०नि०सं० ६८३ वर्ष) तक चली। इस ऐतिहासिक विषय का उल्लेख दिगम्बर

---

१. देखे, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १, इतिहास शब्द । परवार जैन समाज का इतिहास, पृ० ९६, १०९ तथा प्रस्तावना, पृ०२१-२४। भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा। षट्खण्डागम, प्रस्तावना, डॉ. हीरालाल जैन।

साहित्य में दो प्रकार से मिलता है—— १. तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण, धवला आदि मूल ग्रन्थो में, और २ आचार्य इन्द्रनन्दि (वि०सं० ९९६) कृत श्रुतावतार मे। इनसे ज्ञात होता है कि गौतम गणधर से लेकर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी (वी०नि० के १६२ वर्ष बाद) तक मूलसंघ अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। पश्चात् ह्रास होते हुए लोहाचार्य तक एकरूप से चला। लोहाचार्य के बाद मूलसंघ का विभाजन संभवतः निम्न प्रकार हुआ—
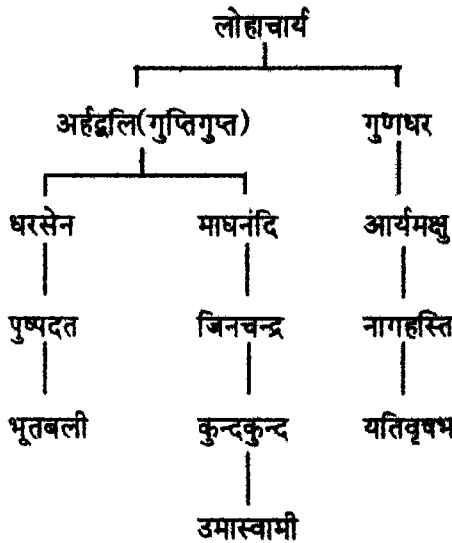
भद्रबाहु प्रथम के समय मे अवन्तिदेश में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा जिसके कारण इस मूलसघ के कुछ आचार्यों मे शिथिलाचार आ गया और आचार्य स्थूलभद्र (भद्रबाहु प्रथम के शिष्य) के संरक्षण में एक स्वतन्त्र श्वेताम्बर सघ की स्थापना हो गई। इस तरह जैन सघ दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो शाखाओं में विभाजित हो गया। दिगम्बर भद्रबाहु स्वामी की संघव्यवस्था आचार्य अर्हद्बलि=गुप्तिगुप्त (वी०नि० ५६५-५९३) के काल मे समाप्त हो गई और दिगम्बर मूलसंघ नन्दि, वृषभ आदि अवान्तर संघों मे विभक्त हो गया। ऐतिहासिक उल्लेखानुसार आ० अर्हद्बलि ने पाँचवर्षीय युग-प्रतिक्रमण के समय (वी०नि० ५७५) सघटन बनाने के लिए दक्षिणदेशस्थ महिमा नगर (आन्ध्रप्रदेश का सतारा जिला) में एक महान् साधु-सम्मेलन बुलाया जिसमें १०० योजन तक के साधु सम्मिलित हुए। इस साधु-सम्मेलन में मतैक्य न होने से मूलसंघ बिखर गया।

कसायपाहुड, छक्खण्डागम आदि श्रुतावतार

दिगम्बर श्रुतधराचार्यों की परम्परा मे गुणधर और धरसेन श्रुतप्रतिष्ठापक के रूप मे प्रसिद्ध हैं। गुणधराचार्य (वि०पू० प्रथम शताब्दी) को पञ्चम पूर्वगत 'पेज्जदोसपाहुड' तथा 'महाकम्मपयडिपाहुड' का ज्ञान प्राप्त था। उन्होंने कसायपाहुड (अपर नाम पेज्जदोसपाहुड) ग्रन्थ की रचना १८० गाथाओं मे की है। 'पेज्ज' का अर्थ है 'राग'। अतः इस ग्रन्थ मे राग-द्वेष रूप कषायो से सम्बन्धित विषय का निरूपण किया गया है। आचार्य गुणधर को दिगम्बर परम्परा मे लिखित श्रुतग्रन्थ का प्रथम श्रुतकार माना गया है।

आचार्य धरसेन ने यद्यपि किसी ग्रन्थ की रचना नही की परन्तु उन्हे पूर्वगत 'कम्मपयडिपाहुड' का ज्ञान प्राप्त था। छक्खडागम (षट्खण्डागम) विषय के ज्ञाता धरसेनाचार्य ने महिमा नगरी मे सम्मिलित हुए दक्षिणपथ के आचार्यों के पास अङ्ग-श्रुत के विच्छेद की आशका से एक पत्र लिखकर इच्छा व्यक्त की 'कोई योग्य शिष्य मेरे पास आकर षट्खण्डागम का अध्ययन करे'। उस समय आचार्य धरसेन (ई०सन् ७३ के आसपास) सौराष्ट्र देश के गिरिनगर (ऊर्जयन्त) नामक नगर की चन्द्रगुफा मे रहते थे। पत्र-प्राप्ति के बाद दक्षिण से दो योग्य मुनि पुष्पदन्त और भूतबलि ने आकर उनसे अध्ययन किया। पश्चात् पुष्पदन्त ने छक्खण्डागम ग्रन्थ के प्रारम्भिक सत्प्ररूपणासूत्रो (बीसदि सुत्त = प्रथम खण्ड के १७७ सूत्रो) को बनाया। पुष्पदन्त का स्वर्गवास हो जाने पर शेष सूत्रो की रचना भूतबलि ने की।

छक्खण्डागम छः खण्डो मे विभक्त है— जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बधसामित्तविचय, वेयणा, वग्गणा और महाबध। आचार्य वीरसेन (ईसा की ८-९वी शताब्दी) ने इन दोनो ग्रन्थो पर विशाल धवला (षट्खण्डागमटीका) और जयधवला (कषायप्राभृत टीका) टीकाये लिखी हैं।

इसके बाद आचार्य आर्यमक्षु और नागहस्ति (ई प्रथम शताब्दी) के क्रम से चूर्णिकार यतिवृषभाचार्य (ई०सन् १७६ के आसपास) ने कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्र लिखे तथा तिलोयपण्णत्ति नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की स्वतन्त्र रचना की। इसी क्रम मे युगसंस्थापक आचार्य कुन्दकुन्द का नाम आता है जिन्होंने श्रुतस्कन्ध की रचना की तथा जिनके नाम से उत्तरवर्ती दिगम्बर-परम्परा 'कुन्दकुन्दाम्नाय' के नाम से प्रसिद्ध हुई। आचार्य 'कुन्दकुन्द' गुणधर, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबली से पूर्ववर्ती हैं या समसमयवर्ती हैं या परवर्ती हैं, विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डॉं देवेन्द्र कुमार जी कुन्दकुन्द को गुणधर के बाद और धरसेन के पूर्व सिद्ध

करते हैं। मूलसंघ की प्रतिष्ठापना यद्यपि आचार्य अर्हद्बलि के समय में ही हो गई थी परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा मूलसंघ की प्रतिष्ठा बढ़ी। इसीलिए उत्तरवर्ती मूलसंघ परम्परा कुन्दकुन्दाम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुई।

मूल आगम (अनुपलब्ध)

आगम दो प्रकार के हैं– १ अङ्ग (अङ्गप्रविष्ट) तथा २. अङ्गबाह्य।[1] गणधर-प्रणीत आचाराङ्ग आदि अङ्ग-प्रविष्ट ग्रन्थ कहलाते हैं। गणधर देव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा अल्प आयु-बुद्धि-बल वाले प्राणियों के लिए अङ्ग ग्रन्थों के आधार पर रचे गए संक्षिप्त ग्रन्थ अङ्गबाह्य कहलाते हैं।[2] जैसे–

(क) **अङ्ग के बारह भेद**[3]– १. आचार, २. सूत्रकृत, ३. स्थान, ४ समवाय, ५.व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६ ज्ञातृधर्मकथा, ७. उपासकाध्ययन, ८ अन्तकृद्दश, ९ अनुत्तरोपपादिकदश, १० प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकसूत्र और १२. दृष्टिवाद। इसमे दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं– परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। पूर्वगत के चौदह भेद हैं– उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। चूलिका के पाँच भेद हैं– जलगता, स्थलगता, आकाशगता, रूपगता और मायागता।

(ख) **अङ्गबाह्य के चौदह भेद (अर्थाधिकार)**[4]— १. सामायिक, २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १० कल्प्याकल्प्य, ११. महाकल्प, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धिका।

कालिक और उत्कालिक के भेद से अङ्गबाह्य अनेक प्रकार के हैं। जिनके पठन-पाठन का निश्चित (नियत) काल है उन्हें कालिक और जिनके पठन-पाठन का निश्चित काल नहीं है उन्हें उत्कालिक कहते हैं।[5]

---

१ श्रुत मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् । –त०सू० १.२० तथा स०सि० टीका।

२ यद्गणधर-शिष्यप्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम्। –रा०वा०, १/२०/७२/२५.

३ स०सि०, १/२०, रा०वा०, १/२०

४. वही, तथा देखें, गो०जी०, ३६७-३६८/७८९.

५. तदङ्गबाह्यमनेकविधम् - कालिकमुत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात्। स्वाध्यायकाले नियतकालं कालिकम्। अनियतकालमुत्कालिकम्। –रा०वा० १/२०/१४/७८/६

अङ्ग और अङ्गबाह्य ग्रन्थों की विषयवस्तु आदि

इन अङ्ग और अङ्गबाह्य ग्रन्थों की उपलब्धता, विषयवस्तु, नाम आदि के सन्दर्भ मे दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओ मे कुछ मतभेद हैं। श्वेताम्बर मान्यतानुसार दृष्टिवाद को छोड़कर शेष ग्यारह अङ्ग ग्रन्थ तथा उत्तराध्ययन आदि अङ्गबाह्य ग्रन्थ आज भी सग्रहरूप मे उपलब्ध हैं, परन्तु दिगम्बर मान्यतानुसार ये सभी ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। दिगम्बर मान्यतानुसार छक्खण्डागम और कसायपाहुड ये दो प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो पूर्वों के आधार पर लिखे गए हैं।[१] अङ्ग और अङ्गबाह्य ग्रन्थो की दिगम्बर मान्यतानुसार विषयवस्तु आदि से सम्बन्धित जानकारी राजवार्तिक आदि ग्रन्थो से जानी जा सकती है।[२]

आगम का सामान्य स्वरूप

आगम, सिद्धान्त और प्रवचन ये तीनो पर्यायवाची शब्द है।[३] आगम के स्वरूप के सम्बन्ध मे निम्न उल्लेख ध्यातव्य हैं–

(१) उन तीर्थङ्करो के मुख से निकली हुई वाणी जो पूर्वापर दोष से रहित हो और शुद्ध हो उसे 'आगम' कहते हैं। आगम को ही 'तत्त्वार्थ' कहते हैं।[४]

(२) जो आप्त के द्वारा कहा गया हो, वादी-प्रतिवादी के द्वारा अखण्डित हो, प्रत्यक्षादि प्रमाणो से अविरुद्ध हो, वस्तुस्वरूप का प्रतिपादक हो, सभी का हितकारक हो तथा मिथ्यामार्ग का खण्डन करने वाला हो, वही सत्यार्थ-शास्त्र है।[५]

(३) जिसके सभी दोष नष्ट हो गए हैं ऐसे प्रत्यक्षज्ञानियो (सर्वज्ञो = केवलियो) के द्वारा प्रणीत शास्त्र ही आगम हैं, अन्यथा आगम और अनागम मे कोई भेद नही हो सकेगा।[६]

---

१ विशेष के लिए देखे, मेरा लेख 'अङ्ग आगमो के विषय-वस्तु-सम्बन्धी उल्लेखो का तुलनात्मक अध्ययन'।— एस्पेक्ट्स ऑफ जैनोलॉजी, वाल्यूम ३

२ विशेष के लिए देखे, वही तथा राजवार्तिक (१ २०); धवला, हरिवंशपुराण, गो०जीवकाण्ड आदि।

३ आगमो सिद्धतो पवयणमिदि एयट्ठो। –ध० १/१.१ १/२०/७

४ तस्स मुहग्गदवयण पुव्वावरदोसविरहिय सुद्ध।
आगमिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।। –नि०सा० ८.

५ आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।। –र०क० ९.

६ आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति, न सर्वः। यदि सर्वः स्यात्, अविशेष स्यात्। –रा०वा०, १/१२/७/५४/८.

(४) पूर्वापर-विरोध आदि दोषों से रहित तथा समस्त पदार्थ-प्रतिपादक आप्तवचन को आगम कहते हैं। अर्थात् आप्त के वचन को आगम जानना चाहिए। जन्म-जरा आदि अठारह दोषों से रहित को आप्त कहते हैं। ऐसे आप्त के द्वारा असत्य वचन बोलने का कोई कारण नहीं है।[१]

(५) आप्त-वचन आदि से होने वाले पदार्थज्ञान को आगम कहते हैं।[२]

(६) जिसमें वीतरागी सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित भेद-रत्नत्रय (षड्द्रव्य-श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा व्रतादि का अनुष्ठान रूप भेदरत्नत्रय) का स्वरूप वर्णित हो, उसे आगमशास्त्र कहते हैं।[३]

(७) जिसके द्वारा अनन्त धर्मों से विशिष्ट जीवादि पदार्थ समस्त रूप से जाने जाते हैं, ऐसी आप्त-आज्ञा ही आगम है, शासन है।[४]

(८) आप्त-वाक्य के अनुरूप अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।[५]

इन सन्दर्भों से स्पष्ट है कि आगम वही है, जो वीतरागी द्वारा प्रणीत हो। अतएव आगमवन्तो का जो ज्ञान होता है वह न्यूनता से रहित, अधिकता से रहित, विपरीतता से रहित तथा निःसन्दिग्ध वस्तुतत्त्व की यथार्थता से युक्त होता है।[६] जो रागी, द्वेषी और अज्ञानियों के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ हैं वे आगमाभास (मिथ्या

---

१ पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहतेः।
द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागमः।।९।।
आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयं विदुः।
त्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्।।१०।।
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति।। –ध० ३/१ २.२/९-११

२ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। –परीक्षामुख ३/९९

३ वीतरागसर्वज्ञप्रणीत-षड्द्रव्यादि-सम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागम-शास्त्रं भण्यते। –पंचास्तिकाय, ता०वृ० १७३/२५५.

४ आसमस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा आगमः शासनम्। –स्याद्वादमंजरी २१/२६२/७.

५. आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। –न्यायदीपिका ३/७३/११२

६. अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।। –नि०सा०,ता०वृ० ८ में उद्धृत।

आगम) है।[१] आप्त के उपदेश को शब्दप्रमाण कहते हैं।[२] शब्दप्रमाण ही श्रुत है।[३] आगम परोक्षप्रमाण श्रुतज्ञान का एक भेद है।[४]

श्रुत या सूत्र के दो प्रकार : द्रव्यश्रुत और भावश्रुत

श्रुत ही सूत्र है और वह सूत्र भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट स्यात्कार चिह्नयुक्त पौद्गलिक शब्दब्रह्म है।[५] परिच्छित्तिरूप भावश्रुत = ज्ञानसमय को सूत्र कहते है।[६] अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत कहलाता है और ज्ञानात्मक भावश्रुत कहलाता है। वास्तव मे भावश्रुत ही श्रुत-ज्ञान है, द्रव्यश्रुत श्रुतज्ञान नहीं।[७] भाव का ग्रहण ही आगम है।[८] शब्दात्मक होने से द्रव्यश्रुत को श्रुत कहते हैं। द्रव्यश्रुतरूप आगम को श्रुतज्ञान उपचार से (कारण मे कार्य का उपचार करने से) कहा जाता है क्योंकि द्रव्यश्रुतरूप आगम के अभ्यास से श्रुतज्ञान तथा सशयादिरहित निश्चल परिणाम होता है।[९]

---

१ रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्। यथा नद्यास्तीरे मोदकराशय सन्ति, धावध्व माणवका. अगुल्यग्रहस्तियूथशतमस्ति इति च विसवादात्।
 —प.मु. ६५१-५४/६९

२ आप्तोपदेश शब्द। —न्यायदर्शनसूत्र १/१/७/१५

३ शब्दप्रमाण श्रुतमेव। —रा०वा०, १/२०/१५/७८/१८

४ गो०जी० ३१३

५ श्रुत हि तावत् सूत्र। तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञ स्यात्कारकेतन पौद्गलिकम् शब्दब्रह्म।
 —प्र०सा०, त०प्र० ३४

६ सूत्र परिच्छित्तिरूप भावश्रुत ज्ञानसमय इति। —स०सा०, ता०वृ०१५

७ ण च दव्वसुदेण एत्थ अहियारो, पोग्गलवियारस्स जडस्स णाणोपलिङ्गभूदस्स सुदत्त-विरोहादो। —ध. १३/५ ४ २६/६४/१२

८ आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽपि आप्तवाक्यकर्मके श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्ति। तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनात्। —न्यायदीपिका ३/७३

९ कथ शब्दस्य तत्स्थापनायाश्च श्रुतव्यपदेश। नैष दोष, कारणे कार्योपचारात्।
 —ध. ९/४ १ ४५/१६२/३

श्रुतभावनाया फलं जीवादितत्त्वविषये सक्षेपेण हेयोपादेयतत्त्वविषये वा सशय-विमोहविभ्रमरहितो निश्चलपरिणामो भवति। —पञ्चास्तिकाय, ता.वृ. १७३/२५४/१९

श्रवण हि श्रुतज्ञान, न पुन शब्दमात्रकम्। तच्चोपचारतो ग्राह्य श्रुतशब्दप्रयोगत।
 —श्लोकवार्तिक १/१/२०/२-३.

श्रुत तथा आगमज्ञान के अतिचार

शास्त्र को पढ़ना मात्र स्वाध्याय नहीं है, अपितु द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि का भी ध्यान रखना चाहिए। इन शुद्धियों के बिना शास्त्र का पढ़ना 'श्रुतातिचार' कहलाता है।[१] इसी प्रकार अक्षर, पद, वाक्य आदि को कम करना, बढ़ाना, पीछे का सन्दर्भ आगे लाना, आगे का सन्दर्भ पीछे ले जाना, विपरीत अर्थ करना, ग्रन्थ एवं अर्थ मे विपरीतता करना ये सब 'ज्ञानातिचार' हैं।[२] अर्थात् शास्त्र का अर्थ सही ढङ्ग से करना चाहिए। उसमें थोड़ा सा भी उलट-पुलट करने से अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

श्रुतादि का वक्ता कौन?

केवली भगवान् के द्वारा उपदिष्ट तथा अतिशय बुद्धि-ऋद्धि के धारक गणधर देवो के द्वारा जो धारण किया गया है उसे 'श्रुत' कहते हैं।[३] इस तरह श्रुत या सूत्र अर्थतः जिनदेव-कथित ही हैं परन्तु शब्दतः गणधर-कथित वचन भी सूत्र के समान है।[४] प्रत्येकबुद्ध आदि के द्वारा कथित वचनो मे भी सूत्रता पाई जाती है[५]। इसी प्रसङ्ग से कसायपाहुडकार की गाथाओ मे भी सूत्रता है। यद्यपि उनके कर्ता गुणधर भट्टारक न गणधर है, न प्रत्येक बुद्ध है, न श्रुतकेवली हैं और न अभिन्नदशपूर्वी हैं, फिरभी गुणधर भट्टारक की गाथाओ मे निर्दोषत्व, अल्पाक्षरत्व और सहेतुकत्व पाया जाने से सूत्रत्व मान्य है।[६]

---

१ द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमन्तरेण श्रुतस्य पठन श्रुतातिचार। —भ. आ., वि. १६/६२/१५

२ अक्षरपदादीना न्यूनताकरण, अतिवृद्धिकरण, विपरीतपौर्वापर्यरचनाविपरीतार्थनिरूपणा ग्रन्थार्थयोर्वैपरीत्य अमी ज्ञानातिचाराः। —भ. आ., वि. १६/६२/१५.

३ तदुपदिष्ट बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारित श्रुतम्। —रा. वा. ६/१३/२/५२३/२९

४ एद सव्वं पि सुत्तलक्खण जिणवयणकमलविणिग्गय-अत्थपदाणं चेव संभवइ, ण गणहरमुहविणिग्गयगंथरयणाए, तत्थ महापरिमाणत्तुवलभादो, ण, सुत्तसारिच्छमस्सिदूण।
—क. पा. १/१ १५/१२०/१५४.

५ सुत्त गणहरगथिद तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुदकेवलिणा कहिय अभिण्णदसपुव्विगथिदं च।। —भ. आ. ३४ तथा मूलाचार २७७

६ णेदाओ गाहाओ सुत्तं गणहर - पत्तेयबुद्ध-सुदकेवलि-अभिण्णदसपुव्वीसु गुणहरभडारस्स अभावादो, ण णिद्दोसपक्खरसहेउपमाणेहि सुत्तेण सरिसत्तमत्थित्ति गुणहराइरियगाहाणं पि सुत्तत्तुवलंभादो। ......एवं सव्व पि सुत्तलक्खणं जिणवयणकमलविणिग्गयअत्थपदाणं चेव सभवइ, ण गणहरमुहविणिग्गयगथरयणाए, ण सच्च (सुत्त) सारिच्छमस्सिदूण तत्थ वि सुत्तत्तं पडिविरोहाभावादो। —क०पा०, जयधवला १/१/११९-१२०

आगमों की प्रामाणिकता के पाँच आधार-बिन्दु

ससार मे अनेक अध्यात्म ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनकी प्रामाणिकता का निर्णय कैसे किया जाए ? इस सन्दर्भ मे निम्न बिन्दु ध्यान देने योग्य हैं—

(१) **जो अर्हत् केवली (अतिशय ज्ञानवालों) के द्वारा प्रणीत हो**— जैसे लोकव्यवहार मे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष स्वभावत प्रमाण है उसी प्रकार आर्ष-वचन भी स्वभावत प्रमाण हैं, क्योकि वक्ता की प्रमाणता से वचन मे प्रमाणता आती है।[1] जो धर्म, सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कहा गया हो वह प्रमाण है। जिस आगम का बनाने वाला रागादि-दोष युक्त होता है वह आगम अप्रमाण होता है। जिसने सम्पूर्ण भावकर्म और द्रव्यकर्म को दूर करके सम्पूर्ण वस्तुविषयक ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसका आगम अप्रमाण कैसे हो सकता है।[2] पुरुषप्रणीत होना अप्रमाणता का कारण नही है।[3]

(२) **जो वीतरागी द्वारा प्रणीत हो**— राग,द्वेष, मोह आदि के वशीभूत होकर ही असत्य वचन बोला जाता है। जिसमे रागादि दोष नही हैं उसके वचनो मे अश मात्र भी असत्यता का प्रश्न उपस्थित नही होता है।[4]

---

१ चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव। —ध० १/१ १ ७५/३१४/५
वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम्। —ध० १/१ १ २२/१९६/४

२ अतिशयज्ञानदृष्टत्वात् भगवतामर्हतामतिशयवज्ज्ञान युगपत्सर्वार्थावभासनसमर्थ प्रत्यक्षम्, तेन दृष्ट तद् दृष्ट यच्छास्त्र तद् यथार्थोपदेशकम् अतस्तत्प्रामाण्याद् ज्ञानावरणाद्यास्रवनियमप्रसिद्धि। —रा०वा०, ६/२७/५/५३२ तथा ८/१६/५६२
विगताशेषदोषावरणत्वात् प्राप्ताशेषवस्तुविषयबोधस्तस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम् अन्यथास्यापौरुषेयत्वस्यापि पौरुषेयवदप्रामाण्यप्रसङ्गात्। —ध० १/१ १ २२/१९६/५
सर्वविद्वीतरागोक्त धर्म सूनृतता व्रजेत्।
प्रामाण्यतो यत पुसो वाच प्रामाण्यमिष्यते।। —पद्मनदि-पंचविंशतिका ४/१०

३ किं बहुना सर्वतत्त्वाना प्रवक्तरि पुरुषे आप्ते सिद्धे सति तद्वाक्यस्यागमस्य सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेषु प्रामाण्यसुप्रसिद्धे। —गो०जी०/जी०प्र० १९६/४३८/१.

४ देखे, पृ. ३३, टि० १ तथा
पमाणत्त कुदो णव्वदे? रागदोसमोहभावेण पमाणीभूदपुरिसपरपराए आगमत्तादो।
—ध०१०/५.५ १२१/३८२/१
जिनोक्ते वा कुतो हेतुर्बाधगन्धोऽपि शङ्क्यते।
रागादिना विना को हि करोति वितथ वच।। —अन०ध० २/२०.

(३) **जो गणधरादि आचार्यों द्वारा कथित हो**— जिन-वचनवत् गणधरादि के वचन भी सूत्र के समान होते हैं। अतः गणधरादि के वचनों में भी प्रामाणिकता है।[१]

(४) **जो आचार्य-परम्परा से आगत कथन हो**— आज श्रुतकेवली आदि का अभाव है। अतएव प्रमाणीभूत पुरुष-परम्परा (आचार्य-परम्परा) से प्राप्त कथन मे ही प्रामाणिकता मानना चाहिए। यदि प्रमाणीभूत पुरुषपरम्परा का व्यवधान हो तो पूर्व-पूर्ववर्ती आचार्य का कथन प्रामाणिक मानना होगा, जहाँ तक प्रमाणीभूत पुरुषपरम्परा प्राप्त है।[२]

(५) **जो युक्ति और शास्त्र से बाधित न हो**— शास्त्रप्रमाण से तथा युक्ति से जो तत्त्व बाधित नही होता है वह प्रामाणिक माना जाता है।[३] आगम में तीन प्रकार के पदार्थ बतलाए है—— दृष्ट, अनुमेय और परोक्ष। आगम में जो वाक्य *या पदार्थ जिस दृष्टि से कहा गया हो उसको उसी दृष्टि से प्रमाण मानना चाहिए।* यदि वाक्य दृष्ट-विषय में आया हो तो प्रत्यक्ष से, अनुमेय-विषय में आया हो तो अनुमान से तथा परोक्ष-विषय मे आया हो तो पूर्वापर का अविरोध देखकर प्रमाणित करना चाहिए।[४] गुरु-परम्परा से प्राप्त उपदेश को केवल युक्ति के बल से विघटित नही किया जा सकता, क्योंकि आगम (सूत्र या श्रुत) वही है जो समस्त बाधाओ से रहित हो।[५]

---

१ देखें, पृ० ३५, टि० ६

२ पमाणत्तं कुदो णव्वदे। . पमाणीभूदपुरिसपरंपराए आगदत्तादो।
—ध० १३/५ ५.१२१/३८२/१

३ अविरोधश्च यस्मादिष्टं मोक्षादिकं तत्त्वं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते। तथा हि यत्र यस्याभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
—अष्टसहस्री, पृ० ६२

४. दृष्टेऽर्थेऽध्यक्षतो वाक्यमनुमेयेऽनुमानतः।
पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाण्यताम्।। —अन०ध० २/१८/१३३.

५. कधं णाम सण्णिदाण पदवक्काणं पमाणत्तं। ण, तेसु विसंवादाणुवलंभादो।
—क०पा० १/१ १५/३०/४४/४

तदो ण एत्थ इदमित्थमेवेत्ति एयंतपरिग्गहेण असग्गाहो कायव्वो, परमगुरुपरंपरागउवएसस्स जुत्तिबलेण विहडावेदुमसक्कियत्तादो। —ति०प० ७/६१३/७६६/३.

ण च सुत्तपडिकूलं वक्खाणं होदि, वक्खाणाभासत्तादो। ण च जुत्तीए सुत्तस्स बाहा संभवदि सयलबाहादीदस्स सुत्तभावएत्तादो। —ध० १२/४.२.१४/३८/४९४/१५.

आधुनिक पुरुषों के द्वारा लिखित वचनों की प्रमाणता कब?

श्रुत के अनुसार व्याख्यान करने वाले आचार्यों या पुरुषों के वचन में प्रमाणता मानने मे यद्यपि कोई विरोध नही है,[१] फिर भी इतना अवश्य है कि अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय मे अल्पज्ञों के द्वारा किए गए विकल्पो मे विरोध सम्भावित हैं।[२] केवलज्ञान के विषयीभूत सभी पदार्थों मे छद्मस्थो (अल्पज्ञों) के ज्ञान की प्रवृत्ति सभव नही है। अत छद्मस्थो को यदि कोई अर्थ उपलब्ध नहीं होता है तो जिन-वचन मे अप्रमाणता नही आती।[३] छद्मस्थों का ज्ञान प्रमाणता का मापदण्ड नही है। यदि छद्मस्थों का कथन राग, द्वेष और भय से रहित आचार्य-परम्परा का अनुसरण करता हो, वीतरागता का जनक हो, अहिंसा का पोषक हो तथा रत्नत्रय के अनुकूल हो तो प्रामाणिक है, अन्यथा नही।[४] प्राचीन आचार्यों के कथन मे यदि बाह्यरूप से विरोध दिखलाई पड़े तो स्याद्वाद-सिद्धान्त से उसका समन्वय कर लेना चाहिए, क्योंकि आगमो मे कुछ कथन निश्चय-नयाश्रित हैं, कुछ विविध प्रकार के व्यवहारनयो के आश्रित हैं, कुछ उत्सर्ग-मार्गाश्रित हैं तो कुछ अपवादमार्गाश्रित हैं।

पौरुषेयता अप्रमाणता का कारण नहीं, जैनागम कथंचित् अपौरुषेय तथा नित्य है

'अपौरुषेयता प्रमाणता का कारण है और पौरुषेयता अप्रमाणता का कारण है' ऐसा कथन सर्वथा असगत है। अन्यथा चोरी आदि के उपदेश भी प्रामाणिक

---

१ अप्रमाणमिदानीतन आगम आरातीयपुरुषव्याख्यातार्थत्वादिति चेन्न, ऐदंयुगीनज्ञान-विज्ञानसंपन्नतया प्राप्तप्रामाण्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थत्वात्। कथ छद्मस्थाना सत्यवादित्वमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातॄणा तदविरोधात्। -ध. १/१ १ २२/१९७/१

२ अदिंदिएसु पदत्थेसु छदुमत्थवियप्पाणमविसवादणियमाभावादो।
-ति.प. ७/६१३/पृ. ७६६

३ न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्येत। -ध. १३/५ ५ १३७/३८९/२.

४ जिणउवदिट्ठत्तादो होदु दव्वागमो पमाण, किन्तु अप्पमाणीभूदपुरिसपव्वोलीकमेण आगयत्तादो अप्पमाणं वट्टमाणकालदव्वागमो त्ति ण पच्चवट्ठादुं जुत्त, रागदोसभयादीदआयरियपव्वोलीकमेण आगयस्स अप्पमाणत्तविरोहादो। -क. पा. १/१.१५/६४/८२.

हो जायेंगे क्योंकि इनका कोई आदि उपदेष्टा ज्ञात नहीं है।[1] आगम अतीत काल में था, आज है तथा भविष्य मे भी रहेगा। अतएव जैन-आगम कथंचित् नित्य हैं तथा वाच्य-वाचक भाव से, वर्ण-पद-पंक्तियों के द्वारा प्रवाहरूप से आने के कारण कथंचित् अपौरुषेय भी हैं।[2]

आगम में व्याकरणादि-विषयक भूल-सुधार कर सकते हैं, प्रयोजनभूत मूलतत्त्वों में नहीं

जैनागमो मे शब्दों की अपेक्षा भावो का प्राधान्य माना गया है। अतः आचार्यों ने व्याकरणादि (लिङ्ग, वचन, क्रिया, कारक, सन्धि, समास, विशेष्य-विशेषण आदि) के दोष संशोधित करके भावार्थ ग्रहण करने की कामना की है।[3] परन्तु भावरूप मूलतत्त्वो मे सुधार करने की अनुमति नही दी है।

यथार्थज्ञान होने पर भूल को अवश्य सुधारें

यथार्थ का ज्ञान होने पर अपनी भूल को अवश्य सुधार लेना चाहिए। भूल को न सुधारने पर सम्यग्दृष्टि जीव भी उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।[4]

---

१ ततश्च पुरुषकृतित्वादप्रामाण्य स्याद्। न चापुरुषकृतित्वं प्रामाण्यकारणम्। चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्। अनित्यस्य च प्रत्यक्षादेः प्रामाण्ये को विरोधः। —रा.वा. १/२०/७/७१/३२

२. अभूत इति भूतम्, भवतीति भव्यम्, भविष्यतीति भविष्यत्, अतीतानागत- वर्तमानकालेष्वस्तीत्यर्थः, एव सत्यागमस्य नित्यत्वम्। सत्येवमागमस्यापौरुषेयत्व प्रसजतीति चेत्, न वाच्यवाचकभावेन वर्ण-पद-पंक्तिभिश्च प्रवाहरूपेण चापौरुषेयत्वाभ्युपगमात्। —ध. १३/५ ५ ५०/२८६/२.

३ णियभावणाणिमित्तं मए कद णियमसारणां सुद।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसविमुक्क।। —नि.सा. १८७.
अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्ध पदमस्ति चेत्, लुप्त्वा तत्कवयोः भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम्। —वही, क. ३१०
लिङ्ग-वचन-क्रिया-कारक-संधि-समास-विशेष्यविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणमत्र न ग्राह्य विद्वद्भिरिति। —परमात्मप्रकाश २/२१४/३१६/२.
जं किं पि एत्थ भणिय अयाणमाणेण पवयणविरुद्धं।
खमिऊण पवयणधरा सोहित्ता तं पयासंतु।। —वसुनंदि श्रावकाचार ५४५

४. सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो गुरुणियोगा।। —ध. १/१.१ १३/११०/१७३.
सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो।। —ध. १/१.१.३७/१४२/२६२.

पूर्वाचार्यों की निष्पक्ष दृष्टि

धवला मे आया है – 'उक्त [एक ही विषय में] दो [पृथक्-पृथक्] उपदेशों मे कौन-सा उपदेश यथार्थ है, इस विषय मे एलाचार्य का शिष्य (वीरसेन स्वामी) अपनी जीभ नही चलाता क्योंकि इस विषय का कोई न तो उपदेश प्राप्त है और न दो मे से एक मे कोई बाधा उत्पन्न होती है, किन्तु दोनों मे से कोई एक ही सत्य होना चाहिए। इसे जानकर कहना उचित है'।[१] इस तरह पूर्ववर्ती वीतरागी जैनाचार्यों की निष्पक्ष दृष्टि आज विशेषरूप से अनुकरणीय है। यदि कोई विषय आचार्य-परम्परा से स्पष्ट समझ मे न आवे तो अपनी ओर से गलत व्यख्या नहीं करनी चाहिए।

श्रुत का बहुत कम भाग लिपिबद्ध हुआ है, शेष नष्ट हो गया है

केवलज्ञान के विषयगोचर भावो का अनन्तवाँ भाग दिव्यध्वनि से कहने मे आता है। जो दिव्यध्वनि का विषय होता है उसका भी अनन्तवॉ भाग द्वादशाङ्ग श्रुत मे आता है।[२] अतएव बहुत-सी सूक्ष्म बातो का निवारण द्वादशाङ्ग श्रुत से नही कर सकते हैं। पूर्वाचार्यों ने सूत्र मे स्पष्ट कहा है 'जो तत्त्व है वह वचनातीत है'। अत द्वादशाङ्ग तथा अङ्गबाह्यरूप द्रव्यश्रुत मात्र स्थूलपदार्थों को विषय करता है।[३]

दिगम्बर जैनाचार्यों के अनुसार जैनागम तो लुप्त हो चुके हैं तथा उनकी जो विषयवस्तु ज्ञात थी वह भी बहुत कुछ नष्ट हो गई है। तिलोयपण्णत्तिकार ने कुछ ऐसी लुप्त-विषयवस्तुओ की सूचनाये दी हैं जो वही से देखना चाहिए।[४] वही यह भी आया है कि २०३१७ वर्षों मे कालदोष से श्रुतविच्छिन्न हो जायेगा।[५]

---

१ दोसु वि उवएसेसु को एत्थ समजसो, एत्थ ण बाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छवो, अलद्धोवदेसत्तादो दोण्णमेक्कस्स बाहाणुवलभादो। –ध० ९/४ १ ४४/१२६/४

२ पण्णवणिज्जाभावा अणतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाण पुण अणतभागो सुदणिबद्धो।। –गो० जी० ३३४/७३१

३ वृद्धै प्रोक्तमत सूत्रे तत्त्व वागतिशायि यत्।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्य वा श्रुत स्थूलार्थगोचरम्।। –प.अ., उ. ६१६

४ तिलोयपण्णत्ति, अधिकार २, ४-८

५ वीस सहस्स तिसदा सत्तारस वच्छराणि सुदतित्थ।
धम्मपयट्टणहेदू वोच्छिस्सदि कालदोसेण।। –ति.प. ४/१४१३

आगम की महिमा

पूर्व तथा अङ्गरूप भेदों में विभक्त यह श्रुतशास्त्र देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों से पूजित है। अनन्तसुख के पिण्डरूप मोक्षफल से युक्त है। कर्ममल-विनाशक, पुण्य-पवित्र-शिवरूप, भद्ररूप, अनन्त अर्थों से युक्त, दिव्य, नित्य, कलिरूपकालुष्य-हर्ता, निकाचित (सुव्यवस्थित), अनुत्तर, विमल, सन्देहान्धकार-विनाशक, अनेक गुणो से युक्त, स्वर्ण-सोपान, मोक्ष-द्वार, सर्वज्ञ-मुखोद्भूत, पूर्वापरविरोधरहित, विशुद्ध, अक्षय तथा अनादिनिधन है।[1]

आगम का अर्थ करने की पाँच विधियाँ

आगम के भावो को सही-सही जानने के लिए अर्थ करने की पाँच विधियाँ बतलाई गई हैं, जहाँ जिस विधि से जो अर्थ प्राप्त होता हो उसे उसी विधि से जानना चाहिए तथा स्याद्वाद-सिद्धान्तानुसार समन्वय करना चाहिए। पाँचों विधियो के नाम है— शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ।[2] जैसे—

(क) शब्दार्थ (वाच्यार्थ)

शब्द और अर्थ मे क्रमशः वाचक और वाच्य शक्ति मानी जाती है। इसमें सकेतग्रह (किस शब्द का क्या अर्थ है, ऐसा ज्ञान) हो जाने पर शब्दो से पदार्थों का जो ज्ञान होता है वही 'शब्दार्थ' कहलाता है। भिन्न-भिन्न शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। शब्द थोड़े हैं और अर्थ अनन्त हैं। शब्दो का अर्थ करते समय देश-काल आदि सन्दर्भों का ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है। जैसे—

---

१ देवासुरिन्दमहियं अणतसुहपिंडमोक्खफलपउरं।
कम्ममलपडलदलण पुण्णपवित्त सिवं भद्दं।। ८०
पुव्वंगभेदभिण्ण अणत-अत्थेहिं सजुदं दिव्व।
णिच्च कलिकलुसहर णिकाचिदमणुत्तर विमलं।। ८१
सदेहतिमिरदलणं बहुविहगुणजुत्तं सग्गसोवाणं।
मोक्खग्गदारभूद णिम्मलबुद्धिसदोहं।। ८२।।
सव्वण्हुमुहविणिग्गयपुव्वावरदोसरहिदपरिसुद्धं।
अक्खयमणादिणिहणं सुदणाणपमाण णिद्दिट्ठं।। —ज. प. ८३

२. शब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्यः। व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्यः। सांख्यं प्रति मतार्थो ज्ञातव्यः। आगमार्थस्तु प्रसिद्धः। हेयोपादानव्याख्यानरूपेण भावार्थोऽपि ज्ञातव्यः। इति शब्दनयमतागम-भावार्थाः व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्याः।
—स.सा., ता.वृ. १२०/१७७

(१) **काल की अपेक्षा अर्थभेद**– जैनो की प्रायश्चित्त विधि मे प्राचीनकाल मे 'षड्गुरु' शब्द का अर्थ एक सौ अस्सी से अधिक उपवास था जो परवर्ती काल मे तीन उपवासो में रूढ हो गया।[१] (२) **शास्त्र की अपेक्षा अर्थभेद**– पुराणो मे द्वादशी शब्द से एकादशी, त्रिपुरार्णव शाक्त-ग्रन्थो मे 'अलि' (भौंरा) शब्द से मदिरा, 'मैथुन' (सम्भोग) शब्द से घी तथा शहद अर्थ किये जाते हैं।[२] (३) **देश की अपेक्षा अर्थभेद**– 'चौर' (चोर) शब्द का दक्षिण में चावल ; 'कुमार' (युवराज) का पूर्व दिशा मे आश्विनमास, 'कर्कटी' (ककड़ी) का कही-कही योनि अर्थ भी किया जाता है।[३]

(ख) नयार्थ (निश्चय-व्यवहारादि दृष्टि)

जिस पदार्थ का प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा, नैगमादि अथवा निश्चय-व्यवहारादि नयो के द्वारा, नामादि निक्षेपो के द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन नही किया गया है वह पदार्थ युक्त (सही) होते हुए भी कभी-कभी अयुक्त (असंगत)-सा प्रतीत होता है, और कभी-कभी अयुक्त होते हुए भी युक्त-सा प्रतीत होता है।[४] अत नयादि की दृष्टि से ऊहापोह करके ही पदार्थ के स्वरूपादि का निर्णय करना चाहिए, तभी सही ज्ञान सम्भव है। इस विधि से एकान्तवादियो के एकान्तवाद का खण्डन किया जाता है।

(ग) मतार्थ (लेखक का अभिमत)

समयसार तात्पर्यवृत्ति मे कहा है–[५] 'साख्यो के प्रति मतार्थ जानना चाहिए' इसका तात्पर्य है नित्यानित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि दोनो प्रकार के

---

१ प्राचीनकाले षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म। साम्प्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देन उपवासत्रयमेव सकेत्यते जीतकल्पव्यवहारानुसारात्।
–स्या॰म॰ १४/१७८/३०

२ शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी। त्रिपुरार्णवे च अलिशब्देन मदिराभिषिक्त च, मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणमित्यादि। –स्या॰ मं॰ १४/१७९/४.

३ चौर-शब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्ध, योन्यादिवाचकाशेयाः।
–स्या॰म॰ १४/१७८/२

४ नामादि-निक्षेपविधिनोपक्षिप्ताना जीवादीना तत्त्व प्रमाणाभ्या नयैश्चाधिगम्यते।
–स॰सि॰ १/६/२०
प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते। युक्तं चायुक्तवद्भवति तस्यायुक्तं च युक्तवत्।
–ध॰ १/१ १.१/१०/१६ तथा ध॰ १/१ १.१/३/१०

५ देखे, पृ॰ ४१, टि॰ २

एकान्तवादियों के अभिप्राय के खण्डन करने के लिए 'मतार्थ' की योजना है। जिन आचार्यों ने सर्वथा एकत्व माना है उन्हीं के निराकरण में तात्पर्य है, न कि प्रमाणसम्मत कथंचित् एकत्व के निराकरण में तात्पर्य है।[1]

(घ) आगमार्थ

'परमागम के साथ विरोध न हो' ऐसा अर्थ करना आगमार्थ है। इसके लिए आवश्यक है– (१) पूर्व-पर प्रकरणो का मिलान किया जाए, (२) आचार्य-परम्परा का ध्यान रखा जाए तथा (३) शब्द की अपेक्षा भाव का ग्रहण किया जाए।[2]

(ङ) भावार्थ

हेय और उपादेय का सही ध्यान रखना ही भावार्थ है। कर्मोपाधिजनित मिथ्यात्व तथा रागादिरूप समस्त विभाव-परिणामो को छोड़कर निरुपाधिक केवलज्ञानादि गुणो से युक्त जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसी को निश्चयनय से उपादेय मानना चाहिए, यही भावार्थ है।[3]

शास्त्रों और शास्त्रकारों का विभाजन

ऐतिहासिक संदर्भों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा का प्रारम्भ स्थूलभद्राचार्य से होता है और दिगम्बर सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा का प्रारम्भ श्रुतकेवली भद्रबाहु से होता है। दिगम्बर-परम्परा मे आचार्यों ने गौतम गणधर द्वारा ग्रथित श्रुत का ही विवेचन किया है। विषयवस्तु वही है जो तीर्थङ्कर महावीर की दिव्यध्वनि से प्राप्त हुई थी। विभिन्न समयों में उत्पन्न होने वाले आचार्यों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार नय-सापेक्ष कथन किया है। तथ्य एक समान होते हुए भी कथन-शैली में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

---

१ ननु.. सर्वं वस्तु स्यादेक स्यादनेकमिति कथं सगच्छते? सर्वस्य वस्तुनः केनापि रूपेणैकाभावात्। . पूर्वोदाहृतपूर्वाचार्यवचनानां च सर्वथैक्य-निराकरणपरत्वाद्, अन्यथा सत्ता-सामान्यस्य सर्वथानेकत्वे पृथक्त्वैकान्तपक्ष एवाहतस्स्यात्।
—सप्तभङ्गीतरङ्गिणी, ७७/ १

२. देखें, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १, पृ. २३०

३ कर्मोपाधिजनितमिथ्यात्वरागादिरूप-समस्तविभावपरिणामांस्त्यक्त्वा निरुपाधिकेवलज्ञानादि-गुणयुक्तशुद्ध-जीवास्तिकाय एव निश्चयनयेनोपादेयत्वेन भावयितव्यम् इति भावार्थः।
—पंचास्तिकाय, ता. वृ. २७/६१ तथा वही ५२/१०१

इन आचार्यों के कथन मे यदि कोई विरोध दिखलाई देवे तो पूर्व-पूर्ववर्ती आचार्यों के वचनो को प्रामाणिक मानना चाहिए क्योंकि वे मूल सिद्धान्तग्रन्थों अथवा उनके प्रतिपादक आचार्यों के अतिनिकट रहे हैं। शास्त्रों की प्रामाणिकता उसमे प्रतिपादित वीतराग-सिद्धान्त और अनेकान्त-सिद्धान्त से मानी जाती है।

शास्त्रों के चार अनुयोग— विषय-प्रतिपादन की प्रमुखता की दृष्टि से शास्त्र चार अनुयोगो मे विभक्त हैं— १ **प्रथमानुयोग** (कथा, पुराण आदि से सम्बन्धित), २ **चरणानुयोग** (आचार विषयक), ३ **द्रव्यानुयोग** (जीवादि छः द्रव्यो से सम्बन्धित) और ४ **करणानुयोग** (लोकालोक-विभाग विषयक)।

शास्त्रकारों का श्रुतधरादि पाँच श्रेणियों में विभाजन— यहाँ जिन शास्त्रकारो का परिचय दिया जा रहा है उनमे कुछ के समय आदि के विषय मे मतभेद है। यहाँ विद्वत् परिषद् से प्रकाशित 'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' नामक पुस्तक के क्रमानुसार शास्त्रकारो का परिचय दिया जा रहा है। पूज्यता की दृष्टि से डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने वहाँ जो पद्धति अपनाई है उसी पद्धति से यहाँ शास्त्रकारो का सक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।[१] दिगम्बर आरातियो की परम्परा को निम्नलिखित पाँच श्रेणियो मे विभक्त किया गया है—

१. **श्रुतधराचार्य**— श्रुत के धारक आचार्य। केवली और श्रुतकेवली की परम्परा से श्रुत के एक देश के ज्ञाता वे आचार्य जिन्होने नष्ट होती हुई श्रुत-परम्परा को मूर्तरूप देकर युग-सस्थापन का कार्य किया है। इन्होने सिद्धान्त-साहित्य, कर्मसाहित्य और अध्यात्म-साहित्य का प्रणयन किया है। यह परम्परा ई सन् पूर्व की शताब्दियो से प्रारम्भ होकर ई सन् ४-५ शताब्दी तक चलती रही।

२ **सारस्वताचार्य**— जो श्रुतधराचार्यों के समान श्रुत या श्रुत के एक देश (अग और पूर्वग्रन्थो) के ज्ञाता तो नही थे परन्तु अपनी मौलिक प्रतिभा से मौलिक ग्रन्थ तथा टीका ग्रन्थ लिखकर साहित्य का प्रचार-प्रसार किया।

३ **प्रबुद्धाचार्य**— इनमे सारस्वताचार्यों की तरह सूक्ष्म निरूपण शक्ति नहीं थी। इस श्रेणी के आचार्य प्रायः कवि हैं। इन्होने अपनी प्रतिभा से ग्रन्थ-प्रणयन के साथ विवृत्तिया और भाष्य आदि लिखे।

४. **परम्परा-पोषकाचार्य**— धर्मप्रचार और धर्मसरक्षण इनका प्रमुख लक्ष्य था। इनमे भट्टारको का प्रमुख योगदान रहा है। इन्होंने प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थो के आधार पर नवीन ग्रन्थ लिखे हैं।

---

१ देखे, प्रथम परिशिष्ट, पृ. १२२

५. कवि और लेखक— श्रुत-परम्परा के विकास में गृहस्थ लेखक और कवि प्रायः इसी श्रेणी में आते हैं।

उपसंहार :

जैन धर्म मे सच्चे शास्त्र वे ही हैं जो वीतरागता के जनक हैं तथा सर्वज्ञ के द्वारा कहे गए हैं। सर्वज्ञ का कथन अर्थरूप होता है जिसे गणधर शब्दरूप मे प्रस्तुत करते हैं। पश्चात् उनके वचनो का आश्रय लेकर प्रत्येकबुद्ध आदि विशिष्ट ज्ञानधारी निर्दोष आचार्यों के द्वारा कथित या लिखित शास्त्र भी सच्चे शास्त्र हैं।

यद्यपि दिगम्बराचार्यों के अनुसार गणधरप्रणीत मूल अङ्ग-ग्रन्थ कालदोष से आज लुप्त हो गए हैं परन्तु उनके वचनो का आश्रय लेकर लिखे गए कषायपाहुड, षट्खण्डागम, समयसार आदि कई ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। इनमें सर्वज्ञ के उपदेश के मूलभाव सुरक्षित हैं। जहाँ कहीं विरोध परिलक्षित होता है वहाँ स्याद्वाददृष्टि से समन्वय कर लेना चाहिए क्योंकि ऐसा ही आचार्यों का आदेश है। उनका कथन देश-काल आदि विभिन्न परिस्थितियो में हुआ है। अतएव नयदृष्टि से किए गए कथनो को देखकर एकान्तवादी नही होना चाहिए। कुछ कथन परिस्थितिवश अपवादमार्ग का आश्रय लेकर किए गए हैं उन्हे राजमार्ग (उत्सर्गमार्ग) नही समझना चाहिए।

इस तरह प्राचीन अङ्गादि ग्रन्थो के लुप्त होने पर भी उनके भावार्थ को दृष्टि मे रखकर लिखे गए कई आगमग्रन्थ आज हमारे समक्ष हैं। वस्तुतः मूल आगम ग्रन्थो के भावार्थ को दृष्टि मे रखकर लिखे गए परवर्तीशास्त्र भी सच्चे शास्त्र हैं, यदि वे आचार्यपरम्परा से आगत हों, वीतरागभाव से लिखे गए हो तथा वीतरागभाव के जनक भी हो। इसके अलावा यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि अनेकान्तदृष्टि से सच्चे आगमो का अर्थ भी सही किया जाए, केवल शब्दार्थ पकड़कर मूल-भावना का गला न घोटा जाए। किसी भी वस्तु का जब स्वाश्रित कथन किया जाता है तब उसे निश्चय-नयाश्रित कथन माना जाता है। जब पराश्रित कथन किया जाता है तब उसे व्यवहाराश्रित कथन माना जाता है और जब निमित्त के निमित्त मे व्यवहार होता है तब उसे उपचार से व्यवहार कहा जाता है। इस तरह जिनवाणी स्याद्वादरूप है तथा प्रयोजनवश नय को मुख्य-गौण करके कहने वाली है। अतः जो कथन जिस अपेक्षा से हो उसे उसी अपेक्षा से जानना चाहिए।

जैनाचार्यों ने चारो अनुयोगों (द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, प्रथमानुयोग और चरणानुयोग) पर पर्याप्त शास्त्र लिखे हैं जो प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी,

कन्नड़, तमिल, मराठी आदि विविध भाषाओ मे हैं। सभी आचार्यों मे श्रुतधराचार्यों और सारस्वत आचार्यों के ग्रन्थ अन्य की अपेक्षा अधिक मूल आगमग्रन्थों के निकट हैं तथा प्रामाणिक हैं। प्रथमानुयोग के ग्रन्थो मे कथादि के माध्यम से मूलसिद्धान्तो को समझाया गया है। उनके काव्यग्रन्थ होने से उनमे अलंकारिक प्रयोग भी हैं। अतः यथार्थ पर ही दृष्टि होना चाहिए।

अविरलशब्दघनौघा प्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ।।

•

यदीया वाग्गङ्गा विविधनयकल्लोलविमला
बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु नः ।।

●

तृतीय अध्याय

गुरु (साधु)

प्रस्तावना : 'गुरु' शब्द का अर्थ :

लोकव्यवहार मे सामान्यतः अध्यापको को 'गुरु' कहा जाता है। माता-पिता आदि को भी गुरु कहते हैं। लोक में कई तरह के गुरु देखने को मिलते हैं जिनका विचारणीय गुरु से दूर तक का भी सम्बन्ध नहीं है। वास्तव मे 'गुरु' शब्द का अर्थ है 'महान्'। 'महान्' वही है जो अपने को कृतकृत्य करके दूसरो को कल्याणकारी मार्ग का दर्शन कराता है। जब तक व्यक्ति स्वय वीतरागी नहीं होगा तब तक वह दूसरो को सदुपदेश नहीं दे सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि गुरु जब मुख से उपदेश देवे तभी गुरु है अपितु गुरु वह है जो मुख से उपदेश दिये बिना भी अपने जीवनदर्शन द्वारा दूसरो को सन्मार्ग मे लगा देवे।

परमगुरु

अर्हन्त (तीर्थङ्कर तथा अन्य जीवन्मुक्त) और सिद्ध भगवान् जो अपने अनन्त ज्ञानादि गुणो से तीनो लोकों मे महान् हैं, वे ही 'त्रिलोकगुरु' या 'परमगुरु' कहे जाते हैं।[1] इनमे गुरु के रूप मे तीर्थङ्करो का विशेष महत्त्व है क्योंकि उनका उपदेश हमे प्राप्त होता है। वे देवाधिदेव हैं तथा परमगुरु भी हैं।

आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु हैं

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय के द्वारा जो महान् बन चुके हैं उन्हें 'गुरु' कहते हैं। ऐसे गुरु हैं, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये तीन परमेष्ठी।[2] पाँच महाव्रतों के धारी, मद का मन्थन करने वाले तथा क्रोध-

---

१ अनन्तज्ञानादिगुरुगुणैस्त्रैलोक्यस्यापि गुरुत्वं त्रिलोकगुरुं तमित्थं भूतं भगवन्तं ।
—प्र. सा., ता. वृ. ७९ प्रक्षेपक गाथा २/१००/२४

अर्थाद् गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः।

भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः। —पं. अ., उ. ६२०

२. गुरुस्थूलया गुरूणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्युक्ततया गुरव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधवः।
—भ. आ./वि./३००/५११/१३

लोभ-भय का त्याग करने वाले गुरु कहे जाते है।[१] आचार्य आदि तीनों परमेष्ठी गुरु श्रेणी में आते हैं।

सिद्ध तथा अर्हन्त अवस्था को प्राप्त करने से पूर्व सभी मुनि (छठे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थानवर्ती मुनि) गुरु कहलाते हैं क्योंकि ये सभी मुनि नैगम नय की अपेक्षा से अर्हन्त तथा सिद्ध अवस्थाविशेष को धारण कर सकते हैं। देवस्थानीय अर्हन्त और सिद्ध को छोड़कर गुरु का यद्यपि सामान्यरूप से एक ही प्रकार है परन्तु विशेष अपेक्षा से वह तीन प्रकार का है— आचार्य, उपाध्याय और साधु। जैसे अग्नित्व सामान्य से अग्नि एक प्रकार की होकर भी तृणाग्नि, पत्राग्नि, काष्ठाग्नि आदि भेद वाली होती है।[२] प्रस्तुत अध्याय में इन तीनो प्रकार के गुरुओ की अभेदरूप से तथा पृथक् पृथक् विवेचना की जायेगी।

संयमी साधु से भिन्न की गुरु संज्ञा नहीं

विषयभोगो मे जिनकी आसक्ति है तथा जो परिग्रह को धारण करते हैं वे ससार मे उलझे रहने के कारण गुरु नही हो सकते, क्योंकि जो स्वय का उद्धार नही कर सकते हैं वे अन्य का उद्धार कैसे कर सकते हैं?[३] अतएव असयत मिथ्यादृष्टि साधु वन्दनीय नही हैं।[४] जो मोहवश अथवा प्रमादवश जितने काल तक लौकिक-क्रियाओ को करता है वह उतने काल तक आचार्य (गुरु) नही है

---

१. पञ्चमहाव्रतकलितो मदमथनः क्रोधलोभभयत्यक्तः।
एष गुरुरिति भण्यते तस्माज्जानीहि उपदेशम्॥ —ज्ञानसार ५

२ तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः।
गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक्॥ ६२१
अथास्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेष्यात्त्रिधा मतः।
एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते॥ ६३७
आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः॥ —पं॰अ॰,उ॰ ६३८

३ रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, टीका (प॰ सदासुखदास) १/१०

४ त सोऊण सकण्णे दसणहीणो ण वदिव्वो॥ —दर्शनपाहुड, २
असंजद ण वदे वच्छविहीणो वि तो ण वदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि॥ —दर्शनपाहुड, २६
कुलिङ्गिन कुदेवाश्च न वन्द्यास्तेऽपि संयतैः। —अन॰ध॰ ७/५२

तथा अन्तरङ्ग में व्रतों से भी च्युत है।[1] इस तरह मिथ्यादृष्टि और सदोष साधु गुरु कहलाने के योग्य नहीं हैं।

जो ज्ञानवान् तथा उत्तम चारित्रधारी हैं उन गुरुओं के वचन सन्देहरहित होने से ग्राह्य हैं। जो ज्ञानवान् और उत्तम चारित्रधारी नहीं हैं उनके वचन सन्देहास्पद होने से स्वीकार के योग्य नहीं हैं।[2] जो तप, शील, संयमादि को धारण करने वाले हैं वे ही साक्षात् गुरु हैं तथा नमस्कार करने के योग्य हैं, इनसे भिन्न नहीं।[3]

निश्चय से अपना शुद्ध आत्मा ही गुरु है

'गुरु' का अर्थ है जो तारे = भवसागर से पार लगाये। निश्चय से अपना आत्मा ही स्वय को तारता है; अर्हन्तादि उसमे निमित्त हैं। इस तरह उपादान कारण की दृष्टि से अपना शुद्ध-आत्मा ही गुरु है। जैसा कि कहा है—

(क) 'अपना आत्मा ही गुरु है क्योंकि वही सदा मोक्ष की अभिलाषा करता है, मोक्षसुख का ज्ञान करता है तथा उसकी प्राप्ति मे अपने को लगाता है।[4]

(ख) आत्मा ही [देहादि में ममत्व के कारण] जन्म-मरण को तथा [ममत्वत्याग के कारण] निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है। अतः निश्चय (परमार्थ) से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य नही।[5] अर्हन्त, आचार्य आदि सम्यग्दर्शन मे निमित्त होने से व्यवहार नय से गुरु हैं। यहाँ ऐसे गुरुओं का ही विचार अपेक्षित है, अन्यथा आत्मस्वरूप को पहचानना कठिन है।

(ग) यह आत्मा अपने ही द्वारा संसार या मोक्ष को करता है। अतएव स्वयं ही अपना शत्रु और गुरु भी है।[6]

---

१. यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकी क्रियाम्।
तावत्काल स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः।। —पं. अ. उ. ६५७

२ ये ज्ञानिनश्चारुचारित्रभाजो ग्राह्या गुरूणा वचनेन तेषाम्।
सदेहमत्यस्य बुधेन धर्मो विकल्पनीयं वचनं परेषाम्।। —अमितगति श्रावका. १.४३

३ इत्युक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी।
नमस्यः स गुरुः साक्षादन्यो न तु गुरुर्गणी।। —प.अ., उ. ६५८

४ स्वस्मिन् सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वत.।
स्वयं हि प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः।। —इष्टोपदेश ३४

५ नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः।। —समाधि-शतक ७५

६. आत्मात्मना भवं मोक्षमात्मनः कुरुते यतः।
अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः ।। —ज्ञानार्णव ३२/८१

(घ) आत्मा का शुद्ध-भाव ही निर्जरादि में कारण है, वही परमपूज्य है और केवल वही आत्मा गुरु है।[१]

क्या साधु से भिन्न ऐलकादि श्रावकों को गुरु माना जा सकता है?

पहले कहा जा चुका है कि साधु (मुनि) परमेष्ठी से नीचे का कोई भी व्यक्ति गुरु नही माना जा सकता है। श्रावक की ११ प्रतिमाओ[२] मे से ७वीं प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी एव ग्यारहवी प्रतिमाधारी (उद्दिष्ट-विरत) क्षुल्लक (एक वस्त्र धारण करने वाला) तथा ऐलक (एकमात्र लगोटी रखने वाला) भी गुरुसज्ञक नही हैं क्योंकि वे श्रावक की श्रेणी मे ही हैं। इसके बाद मुनिदीक्षा लेने पर ही गुरुसज्ञा प्राप्त होती है। लोकाचार की दृष्टि से विशेष प्रसङ्ग मे साधुभिन्न श्रावक को भी गुरु कहा जाता है। इस सदर्भ मे हरिवशपुराण मे एक कथा आई है– 'एक समय रत्नद्वीप में चारण मुनिराज के पास चारुदत्त श्रावक और दो विद्याधर बैठे हुए थे। उसी समय दो देव स्वर्गलोक से आए और उन्होने मुनि को छोड़कर पहले चारुदत्त श्रावक को नमस्कार किया। वहाँ बैठे हुए दोनो विद्याधरो ने आगत देवो से इस नमस्कार के व्युत्क्रम का कारण पूछा। इसके उत्तर मे देवो ने कहा 'चारुदत्त ने हम दोनो को बकरा योनि मे जिनधर्म का उपदेश दिया था जिसके फलस्वरूप हमारा कल्याण हुआ है। अतएव ये हम दोनो के साक्षात् गुरु हैं'।[३] महापुराण मे भी इसी प्रकार का एक अन्य उद्धरण मिलता है, जैसे–

---

१ निर्जरादिनिदान य शुद्धो भावश्चिदात्मन।
परमार्ह स एवास्ति तद्वानात्मा पर गुरु।। –प. अ., उ. ६२८

२ श्रावक की क्रमशः ११ प्रतिमायें हैं जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं— १ दार्शनिक, २. व्रतिक, ३ सामयिकी, ४ प्रोषधोपवासी, ५ सचित्तविरत, ६ दिवामैथुनविरत, ७ अब्रह्मविरत (पूर्ण ब्रह्मचर्य), ८ आरम्भविरत, ९ परिग्रहविरत, १० अनुमतिविरत और ११ उद्दिष्टविरत (क्षुल्लक और ऐलक अवस्था)। किसी भी प्रतिमा (नियम) के लेने पर उससे पूर्ववर्ती प्रतिमा का पालन अनिवार्य है। –द्र.सं., टीका ४५/१९५/५.

३ अक्रमस्य तदा हेतु खेचरौ पर्यपृच्छताम्।
देवावृषिमतिक्रम्य प्राग्नतौ श्रावक कुत।
त्रिदशावूचतुर्हेतु जिनधर्मोपदेशकः।
चारुदत्तो गुरु साक्षादावयोरिति बुध्यताम्।।
तत्कथं कथमित्युक्ते छागपूर्वः सुरोऽभणीत।
श्रूयता मे कथा तावत् कथ्यते खेचरो स्फुटम्।। –हरिवंशपुराण, २१/१२८-१३१

'महाबल के भव में भी वे मेरे स्वयबुद्ध (मन्त्री के रूप में) गुरु थे। आज इस भव में भी सम्यग्दर्शन देकर [प्रीतंकर मुनिराज के रूप में] विशेष गुरु हुए हैं।'[१]

इन दो उद्धरणों से ज्ञात होता है कि विशेष परिस्थितियों में व्यवहार से सम्यग्दर्शन-प्राप्ति में निमित्तभूत अणुव्रती श्रावक को गुरु कहा जा सकता है,[२] परन्तु अव्रती मिथ्यादृष्टि को कदापि गुरु नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि सदोष साधु भी गुरु नही हो सकता है।

आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनों में गुरुपना = मुनिपना समान है

विशेष व्यवस्था को छोड़कर आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनों में मुनिपना समान होने से उनमे परमार्थत कोई भेद नही है, क्योंकि मुनि बनने का कारण एक समान है, बाह्यवेष एकसा है, तप, व्रत, चारित्र, समता, मूलगुण, उत्तरगुण, सयम, परीषहजय, उपसर्गजय, आहारादिविधि, चर्या-स्थान, आसन, आदि सभी कुछ एकसा है।[३] इस तरह से तीनो यद्यपि समान रूप से दिगम्बर मुनि हैं, परन्तु मुनिसंघ की व्यवस्था-हेतु दीक्षाकाल आदि के अनुसार इनके कार्यों का विभाजन किया जाता है। जैसे— कोई मुनिसघ का कुलपति (आचार्य) होता है जिसे 'दीक्षागुरु' भी कहा जाता है। कोई 'शिक्षागुरु' (श्रुतगुरु) होता है जो शास्त्रो का अध्यापन आदि कराता है, जिसे 'उपाध्याय' कहते हैं। कोई 'निर्यापकाचार्य' होता है जो समाधिमरण के इच्छुक साधु की साधना कराता है। छेदोपस्थापना कराने

---

१ महाबलभवेऽप्यासीत् स्वयबुद्धो गुरु स न।
वितीर्य दर्शन सम्यगधुना तु विशेषत।। —महापुराण ९/१७२

२ पचाध्यायी, उ. ६४८

३ एको हेतु क्रियाऽप्येका वेषश्चैको बहि समः।
तपो द्वादशधा, चैक, व्रत चैक च पञ्चधा।। ६३९
त्रयोदशविध चैक चारित्र समतैकधा।
मूलोत्तरगुणाश्चैके सयमोऽप्येकधा मतः।। ६४०
परीषहोपसर्गाणा सहन च सम स्मृतम्।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः।। ६४१
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञान चारित्रमात्मनः।
रत्नत्रय सम तेषामपि चान्तर्बहिःस्थितम्।। ६४२
ध्याता ध्यान च ध्येय च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात्।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता।। —पं. अ. ६४३

वाले को भी निर्यापकाचार्य कहते हैं। जो आचार्य तो नही है, परन्तु विशेष परिस्थितियो मे आचार्य के कार्यों को करता है उसे 'एलाचार्य' कहते हैं। इसी तरह कार्यानुसार साधुओ मे पदगत भेद किया जाता है किन्तु वास्तविक भेद नहीं है।

साधुओ के सामान्य स्वरूप के पूर्व उनके पदगत परिचय को अल्पविषय होने से प्रथमत दे रहे है–

आचार्य

साधु बनने के इच्छुक लोगो का परीक्षण करके उन्हे दीक्षा देने वाला, उनको शिक्षा देने वाला, उनके दोषों का निवारण करने वाला तथा अन्य अनेक गुणो से विशिष्ट सघनायक साधु आचार्य कहलाता है। लोक मे गृहस्थो के धर्मकर्मसम्बन्धी विधि-विधानो को कराने वाले गृहस्थाचार्य तथा पूजा-प्रतिष्ठा आदि को कराने वाले प्रतिष्ठाचार्य[1] यहाँ अभीष्ट नही है, क्योंकि वे गृहस्थ हैं, मुनि नही। साधुरूपधारी आचार्य ही गुरु हैं और वही पूज्य हैं, अन्य नही।

सामान्य स्वरूप

आचार्य पद पर प्रतिष्ठित साधु पाँच प्रकार के आचार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य) का स्वय निरतिचार पालन करता है, अन्य साधुओ से उस आचार का पालन करवाता है, दीक्षा देता है, व्रतभग होने पर प्रायश्चित्त कराता है।[2] इस

---

१ देसकुलजाइसुद्धो णिरुवम-अगो विसुद्धसम्मत्ते।
पढमाणिओयकुसलो पईट्ठालक्खणविहिविदण्णू।।
सावयगुणोववेदी उवासयज्झयणसत्थथिरबुद्धि।
एव गुणो पइट्ठाइरिओ जिणसासणे भणिओ।। –वसुनदि-श्रावकाचार ३८८, ३८९

अर्थ– जो देश-कुल-जाति से शुद्ध हो, निरुपम अग का धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोग मे कुशल हो, प्रतिष्ठा की लक्षण-विधि का ज्ञाता हो, श्रावक के गुणो से युक्त हो तथा जो उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) शास्त्र मे स्थिरबुद्धि हो वही जिनशासन मे 'प्रतिष्ठाचार्य' कहा गया है।

२ आयार पञ्चविह चरदि चरावेदि जो णिरदिचार।
उवदिसदि य आयार एसो आयारव णाम।। –भ० आ० ४१९
सदा आयारविद्दण्हू सदा आयरिय चरे।
आयारमायारवतो आयरिओ तेण उच्चदे।।
जम्हा पञ्चविहाचार आचरतो पभासदि।
आयरियाणि देसतो आयरिओ तेण उच्चदे।। –मू० आ० ५०९-५१०

प्रकार आचार्य साधुसंघ का प्रमुख होता है और आत्मसाधना के कार्यों में सदा सावधान रहता है। संघ-संचालन का कार्य वह कर्तव्य समझ कर करता है, उसमें विशेष रुचि नहीं रखता। जब कोई व्रती अपने आत्मिक कार्यों में प्रमादी होने लगता है तो वह उसे आदेश पूर्वक प्रमाद छोड़ने को कहता है। अव्रती को कोई आदेश नही करता। यद्यपि उपदेश सभी को देता है, फिर भी न तो हिंसाकारी आदेश करता है और न उपदेश।[१] गौणरूप से दान-पूजा आदि का उपदेश दे सकता है।[२] आस्रव के कारणभूत सभी प्रकार के उपदेशों से वह अपने को बचाता है। असयमी पुरुषो के साथ सम्भाषण आदि कभी नहीं करता, क्योंकि जो ऐसा करता है वह न तो आचार्य हो सकता है और न अर्हन्तमत का अनुयायी।[३]

'आचार्य सघ का पालन-पोषण करता है' ऐसा कथन मिथ्या है, क्योंकि मुनिजीवन भरण-पोषण आदि के भार से सर्वथा मुक्त होता है। आचार्य धर्म के आदेश और उपदेश के सिवा अन्य कार्य नही करता है[४] और यदि वह मोह या प्रमादवश लौकिकी-क्रियाओ को करता है तो वह उतने काल तक न तो आचार्य है और न व्रती।[५]

पचविधमाचार चरन्ति चारयतीत्याचार्या। –ध. १/१ १ १/४८/८
पञ्चस्वाचारेषु ये वर्तन्ते पराश्च वर्तयन्ति ते आचार्या।–भ. आ., वि. ४६/१५४/१२
पञ्चाचार परेभ्य स आचारयति सयमी।।
अपि छिन्ने व्रते साधो पुन सन्धानमिच्छत।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्त प्रयच्छति। –प. अ., उ. ६४५, ६४६

१ न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणा व्रतधारिणाम्।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया।।
स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिना मनागपि।
हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात्।।
मुनिव्रतधराणा वा गृहस्थव्रतधारिणाम्।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रित। –प. आ., उ. ६४८-६५०
यद्वादेशोपदेशौ स्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि।
यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित्।। –प. अ., उ. ६५४

२. न निषिद्ध: स आदेशो नोपदेशो निषेधित।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि।। –प. अ., उ. ६५३

३ सहासयमिभिर्लोकै: ससर्गं भाषण रतिम्।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हत।। –पं. अ., उ. ६५५

४ संघसपोषक: सूरि: प्रोक्त: कैश्चिन्मतेरिह।
धर्मोपदेशोपदेशाभ्या नोपकारोऽपरोऽस्त्यत:।। –पं. अ., उ. ६५६

५. देखें, पृ. ४७ टि. १.

आचार्य धीर, गम्भीर, निष्कम्प, निर्भीक, सौम्य, निर्लेप तथा शूरवीर होते हैं। पञ्चेन्द्रियरूपी हाथी के मद का दलन करने वाले, चौदह विद्यास्थानों में पारंगत, स्वसमय-परसमय के ज्ञाता और आचाराङ्ग आदि अङ्गग्रन्थों के विज्ञाता होते हैं। प्रवचनरूपी समुद्रजल में स्नान करने से निर्मल बुद्धि वाले होते हैं।[१] ऐसे आचार्य ही साक्षात् गुरु हैं तथा नमस्कार करने के योग्य हैं। इनसे भिन्न स्वरूप वाले न तो आचार्य (संघपति) हैं और न गुरु।[२]

आचार्य के छत्तीस गुण

आचार्य के छत्तीस गुण कौन-कौन हैं? इस विषय मे पूर्ण एकरूपता नही है। आचार्य मूलतः साधु है, अतः कुछ गुण ऐसे है जो एक सामान्य साधु मे होना अनिवार्य है। जैसे– आठ आचारवत्व आदि, दस स्थितिकल्प, बारह तप और छह आवश्यक— ये आचार्य के छत्तीस गुण है।[३] अपराजितसूरि के अनुसार आठ

---

१ पचाचारसमग्गा पचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगम्भीरा आयरिया एरिसा होंति।। –नि॰ सा॰ ७३
पवयणजलहि-जलोयर-ण्हायामलबुद्धिसुद्धछावासो।
मेरुव्व णिप्पकपो सूरो पचाणणो वण्णो।।
देसकुलजाइसुद्धो सोमङ्गो सग-सग उम्मुक्को।
गयणव्व णिरुवलेवो आयरिओ एरिसो होइ।।
सगह-णिग्गहकुसलो सुत्तत्थ विसारिओ पहियकित्ती।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आयरिओ ।। -ध॰ १/१ १ १/२९-३१
चतुर्दशविद्यास्थानपारगाः एकादशाङ्गधराः। आचाराङ्गधरो वा। तात्कालिक-स्वसमय-परसमय-पारगो वा मेरुरिव निश्चलः, क्षितिरिव सहिष्णुः। सागर इव बहिर्क्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः।-ध॰, १/१ १ १/४८/८ तथा देखिए, मूलाचार १५८, १५९

२ उक्तव्रततपःशीलसयमादिधरो गणी।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी।। –प॰ अ॰, उ॰ ६५८

३ आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
बारस तव छावासय छत्तीस गुणा मुणेयव्वा।। –भ॰ आ॰ ५२८
आचारवान् श्रुताधारः प्रायश्चित्तासनादिदः।
आयापायकथी दोषाभाषकोऽश्रावकोऽपि च।।
सन्तोषकारी साधूना निर्यापक इमेऽष्ट च।
दिगम्बरोऽप्यनुद्दिष्टभोजी शय्यासनीति च।।
आरोगभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुणः।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी च तद्द्विनिषद्यकः।।

ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति, ये आचार्य के छत्तीस गुण हैं।[1] अन्यत्र अट्ठाईस मूलगुण तथा आचारवत्व आदि आठ गुणों को; कहीं दश आलोचना, दश प्रायश्चित्त, दश स्थिति और छै जीतगुणों को; कहीं बारह तप, छै आवश्यक, पाँच आचार, दश धर्म और तीन गुप्तियों को आचार्य के छत्तीस गुण बतलाये हैं।[2]

आचारवत्व आदि आठ गुण[3]

१ आचारवत्व (पाँच प्रकार के आचार का स्वय पालन करना तथा दूसरो से पालन करवाना), २ आधारवत्व (श्रुताधार=श्रुत का असाधारण ज्ञान), ३ व्यवहारपटु (प्रायश्चित्त वेत्ता), ४ प्रकुर्वित्व (समाधिमरण आदि कराने में कुशल), ५. आयापायकथी (गुण-दोष बताने मे कुशल), ६. उत्पीलक (अवव्रीडक= दोषाभावक), ७. अपरिस्रावी (श्रमणो के गोप्यदोषो को दूसरो पर प्रकट न करने वाला), और ८ सुखावह या संतोषकारी निर्यापक (निर्यापकाचार्य के गुणो वाला)— ये आचार्य के आचारवत्व आदि आठ गुण हैं।

दस स्थिति-कल्प[4]

१ आचेलक्य (दिगम्बर), २. अनुद्दिष्टभोजी, ३. शय्यासनत्याग, ४ राजपिण्डत्याग (राजाओ के भोजन का त्याग) या आरोगभुक् (ऐसा भोजन

द्वि षट्तपास्तथा षट्चावश्यकानि गुणा गुरोः।। —बो. पा., टीका १/७२ में उद्धृत।
अष्टावाचारवत्वाद्यास्तपांसि द्वादशस्थितेः।
कल्पा दशाऽवश्यकानि षट् षट्त्रिंशद्गुणा गणेः।। —अन. ध. ९/७६

१ अष्टौ ज्ञानाचाराः दर्शनाचाराश्चाष्टौ तपो द्वादशविधं पंच समितयः तिस्रो गुप्तयश्च षट्त्रिंशद्गुणाः। —भ. आ., विजयोदया टीका ५२८

२ मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. ३६१-३६२ तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार ५, सदासुखकृत षोडशकारणभावना में आचार्य-भक्ति।

३ आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय।
आयावायवीदंसी तहेव उप्पीलगो चेव।। ४१७
अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ति।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ।। —भ. आ. ४१८
तथा देखें, पृ. ५४, टि. ३

४. आचेलक्कुद्देसिय-सेज्जाहर-रायपिंड-किरियम्मे।
जेट्ठ पडिक्कमणे वि य मासं पज्जो सवणकप्पो। —भ.आ. ४२१
तथा देखें, पृ ५४, टि ३.

जिससे स्वस्थ रहे, बीमार न पड़े), ५ कृतिकर्म (साधु की विनयादि क्रिया), ६ व्रतवान्, ७ ज्येष्ठ सद्गुण, ८. प्रतिक्रमी या प्रतिक्रमणी (नित्य लगने वाले दोषो का शोधन), ९ मासस्थिति (मासैकवासता या षण्मासयोगी) और १०. पद्य या दो निषद्यक (वर्षाकाल मे चार मास पर्यन्त एक स्थान पर निवास)– ये आचार्य के दश स्थितिकल्प बतलाए गए है।

बारह तप

१ अनशन, २ अवमोदर्य (भूख से कम खाना), ३ रसपरित्याग, ४ वृत्तिपरिसख्यान (भिक्षाचर्या=भोजनादि के समय गृह, पात्र आदि का अभिग्रह या सकल्प लेना), ५ कायक्लेश (आतापनादि से शरीर को परिताप देना), ६ विविक्तशयनासन (एकान्त निर्जन स्थान मे रहना), ७ प्रायश्चित्त (अपराध-प्रमार्जन), ८ विनय (गुरुजनो का आदर तथा दर्शन-ज्ञान आदि मे बहुमान), ९ वैयावृत्य (गुरु आदि की परिचर्या), १० स्वाध्याय, ११ ध्यान (चित्तवृत्ति-निरोध) और १२ व्युत्सर्ग (त्याग, नि सगता, अनासक्ति)। इनमे प्रथम छ बाह्य-तप कहलाते हैं और अन्तिम छ आभ्यन्तर-तप। ये बारह तप सभी साधुओ के लिए यथाशक्ति अवश्य करणीय हैं। इनमे आभ्यन्तर तपो की प्रधानता है।

छह आवश्यक

१ सामायिक (समता), २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण (पाप-प्रक्षालन), ५ प्रत्याख्यान (अशुभ-प्रवृत्तियो का त्याग) और ६ कायोत्सर्ग (शरीर से ममत्वत्याग)— ये छह आवश्यक सभी साधुओ को प्रतिदिन करणीय हैं।

आचार्य के अन्य गुणो की चर्चा साधु के मूलगुण- उत्तरगुण-प्रकरण मे करेंगे क्योंकि आचार्य मूलत साधु है, अतएव उसमे साधु के सामान्य गुणो का होना आवश्यक है।

आचार्य 'दीक्षागुरु' के रूप में

जब कोई व्यक्ति साधु बनकर साधु-सघ मे आना चाहता है तो आचार्य प्रथमत उसकी परीक्षा करके यह पता लगाते हैं कि वह साधु बनने की योग्यता रखता है या नहीं। इसके बाद अनुकूलता देखकर साधु बनने वाले के माता-पिता आदि की तथा अन्य व्यक्तियों की सम्मति लेकर आचार्य उसे दीक्षा देते हैं। दीक्षा देने के कारण उसे 'दीक्षागुरु' कहते हैं। जैसा कि कहा है–

लिङ्ग-धारण (मुनि-दीक्षा) करते समय जो निर्विकल्प सामायिक संयम का प्रतिपादन करके शिष्य को प्रव्रज्या देते हैं वे आचार्य 'दीक्षागुरु' कहलाते हैं।[१] दीक्षागुरु ज्ञानी और सही अर्थों में वीतरागी होना चाहिए। यदि ऐसा दीक्षागुरु नहीं होगा तो उससे अभीष्ट मोक्ष फल नहीं मिलेगा। शुद्धात्मा के उपदेश से शून्य अज्ञानी छद्मस्थो से जो दीक्षा लेते हैं वे पुण्यादि का फल तो प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष नहीं प्राप्त करते। अतएव सही दीक्षागुरु से ही दीक्षा लेनी चाहिए।[२]

आर्यिकाओं का गणधर आचार्य कैसा हो?

उत्तम क्षमादि-धर्मप्रिय, दृढधर्मा, धर्महर्षी, पापभीरु, सर्वतःशुद्ध (अखण्डित आचरणयुक्त), उपकारकुशल, हितोपदेशी, गम्भीर, परवादियो से न दबने वाला, मितभाषी, अल्पविस्मयी, चिरदीक्षित तथा आचार-प्रायश्चित्तादि ग्रन्थों का ज्ञाता आचार्य आर्यिकाओ का गणधर होता है।[३] यदि आचार्य इन गुणो से युक्त न होगा तो गच्छ आदि की विराधना होगी।

बालाचार्य

असाध्य रोगादि को देखकर जब आचार्य अपनी आयु की अल्पता का अनुभव करता है तो अपने शिष्यो मे से अपने समानगुण वाले किसी योग्यतम

---

१ लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि। —प्र. सा. २१०
लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसयमप्रतिपादकत्वेन य किलाचार्य प्रव्रज्यादायक. स गुरु। —प्र. सा., त. प्र. २१०
योऽसौ प्रव्रज्यादायक स एव दीक्षागुरु। —प्र. सा., ता. वृ २१०/२८४/१२

२ छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भाव सादप्पग लहदि।। —प्र. सा. २५६
ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति, पुण्यमेव मुक्तिकारणं भणन्ति ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते, न च गणधरदेवादय.। तैश्छद्मस्थैरज्ञानिभिः शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते। —प्र. सा., ता. वृ., २५६/३४९/१५

३ पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो।। —मू. आ. १८३
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइ गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि।। —मू. आ. १८४
तथा देखे, —मू. आ. १८५

शिष्य को अपना उत्तराधिकारी बनाता है। ऐसे उत्तराधिकारी को 'बालाचार्य' कहते हैं। आचार्य अपने गच्छ का अनुशासन करने हेतु शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र आदि मे अपने समान गुण वाले बालाचार्य पर गण को विसर्जित कर देते हैं।[१] उस समय आचार्य अनुशासन-सम्बन्धी कुछ उपदेश बालाचार्य को देते हैं तथा स्वयं समाधिमरण आदि की तैयारी मे लग जाते हैं। नियम भी है कि सल्लेखना के समय तथा श्रेणी-आरोहण के समय आचार्य-पद का त्याग कर दिया जाता है या स्वत त्याग हो जाता है।[२]

एलाचार्य

'एला' शब्द का अर्थ है 'इलायची'। जिस तरह इलायची आकार मे छोटी होकर भी महत्त्वपूर्ण होती है उसी तरह जो अभी आचार्य तो नही है परन्तु आचार्यवत् गुणो के कारण आचार्य के कार्यों को करता है उसे 'एलाचार्य' कहते हैं। यह गुरु की अनुपस्थिति मे अन्य मुनियो को चारित्र आदि के क्रम को बतलाता है।[३]

बालाचार्य (युवाचार्य) और एलाचार्य ये दोनो आचार्य परिस्थिति-विशेष मे मुख्य आचार्य के कार्य-सचालन मे सहायक होते है। इन्हे आचार्य के भेद नही मानना चाहिए। आचार्य वही है जिसका वर्णन पहले किया गया है।

निर्यापकाचार्य

निर्यापकाचार्य का विशेष महत्त्व रहा है। इसमे आचार्य के गुणो के साथ एक विशेषविधि की दक्षता होती है। ये दो प्रकार के होते है— छेदोपस्थापना

---

१ काल सभाविता सव्वगणमणुदिस च बाहरिय।
सोमतिहिकरण-णक्खत्तविलग्गे मगलागासे।। २७३
गच्छाणुपालणत्थ आहोइय अत्तगुणसम भिक्खू
तो तम्मि गणविसग्ग अप्पकहाए कुणदि धीरो।। —भ० आ० २७४

२ सल्लेहण करेतो जदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण।
ताए वि अवत्थाए चिंतेदव्व गणस्स हिय।। —भ० आ० २७२
आमतेऊण गणिं गच्छम्मि त गणिं ठवेदूण।
तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउल गच्छ।। —भ० आ० २७६
तथा देखे, पचाध्यायी, उत्तरार्ध ७०९-७१३

३ अनुगुरो पश्चाद्दिशति विधत्ते चरणक्रममित्यनु दिक् एलाचार्यस्तस्मै विधिना।
—भ० आ० १७७, ३९५

कराने वाले और सल्लेखना कराने वाले। ये दो भेद कार्य की अपेक्षा से हैं। प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में निर्यापकाचार्य को 'शिक्षागुरु' और 'श्रुतगुरु' बतलाया है तथा निर्यापक का लक्षण किया है— 'संयम में छेद होने पर प्रायश्चित देकर सवेग एवं वैराग्यजनक परमागम के वचनों के द्वारा जो साधु का संवरण करते हैं उन्हें निर्यापक कहते हैं'।[१] अर्थात् सयम से च्युत साधु को दीक्षाछेदरूप प्रायश्चित्त के द्वारा पुनः संयम में स्थापित करना तथा सुदृढ समाधिमरण् के इच्छुक साधु की इच्छा को सधवाना निर्यापकाचार्य का प्रमुख कार्य है।

छेदोपस्थापना की दृष्टि से निर्यापकाचार्य

दीक्षा (लिङ्गग्रहण) के समय निर्विकल्प सामायिक संयम के प्रतिपादक आचार्य प्रव्रज्यादायक गुरु हैं। तदनन्तर दीक्षा मे छेद (कमी) होने पर सविकल्प छेदोपस्थापना सयम के प्रतिपादक आचार्य को छेदोपस्थापक (पुनःस्थापक) निर्यापक कहते है। इस प्रकार जो छिन्न-सयम के प्रतिसन्धान की विधि के प्रतिपादक हैं वे निर्यापकाचार्य हैं।[२] अर्थात् सयम-पालन मे प्रमाद आदि के कारण गड़बड़ी होने पर पुनः सयम मे प्रायश्चित्त-विधिपूर्वक स्थापित करानेवाले को छेदोपस्थापक निर्यापकाचार्य कहते हैं।

सल्लेखना की दृष्टि से निर्यापकाचार्य

सल्लेखना की सम्यक् साधना निर्यापकाचार्य के बिना बहुत कठिन है। इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है कि एक से बारह वर्षों तक, सात सौ से भी अधिक योजन तक विहार करके यदि योग्य निर्यापकाचार्य को खोजा जा सके तो अवश्य खोजना चाहिए।[३] उत्कृष्ट निर्यापकाचार्य के सरक्षण (चरणमूल) मे यदि समाधिमरण लिया जाता है तो उसे चारो प्रकार की आराधनाओ (ज्ञान, दर्शन,

---

१ छेदयोर्ये प्रायश्चित्तं दत्वा सवेगवैराग्यजनकपरमागमवचनै सवरण कुर्वन्ति ते निर्यापकाः शिक्षागुरव श्रुतगुरवश्चेति भण्यते। —प्र. सा., ता. वृ. २१०/२८४/१५

२ यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरु। य पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसयमप्रतिपादकत्वेन छेद प्रत्युपस्थापक स निर्यापकः। योऽपि छिन्नसयमप्रतिसन्धानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव। ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति। —प्र. सा./ता. प्र. २१०

३ पचच्छसत्तजोयणसदाणि तत्तोऽहियाणि वा गतुं।
णिज्जावगमण्णेसदि समाधिकामो अणुण्णादं।। ४०१
एक्कं वा दो वा तिण्णि य बारसवरिसाणि वा अपरिदंतो।
जिणवयणमणुण्णाद गवेसदि समाधिकामो दु।। —भ. आ. ४०२

चारित्र और तप) की तथा आत्मशुद्धि आदि गुणो की प्राप्ति होती है[1]। निम्न (चारित्रहीन) निर्यापक का आश्रय लेने से हानि होती है, क्योकि वह रत्नत्रय से च्युत होने पर उसे रोक नही सकेगा। इसके अतिरिक्त वह क्षपक की सल्लेखना को लोक मे प्रकट करके पूजा आदि आरम्भ क्रियाओ को करायेगा।[2]

समाधिमरण-साधक योग्य निर्यापकाचार्य का स्वरूप

आचारवत्व आदि जो सामान्य गुण आचार्य के बतलाये हैं वे सभी गुण समाधिमरणसाधक निर्यापकाचार्य मे होना चाहिए। इसके अतिरिक्त योग्यायोग्य आहार के जानने मे कुशल, क्षपक के चित्त को प्रसन्न रखने वाला, प्रायश्चित्त-ग्रन्थ के रहस्य को जानने वाला, आगमज्ञ, स्व-पर के उपकार करने मे तत्पर, ससारभीरु तथा पापकर्मभीरु साधु ही योग्य निर्यापक हो सकता है।[3] जिस प्रकार नौका चलाने मे अभ्यस्त बुद्धिमान् नाविक तरगो से अत्यन्त क्षुभित समुद्र मे रत्नो से भरी हुई नौका को डूबने से बचा लेता है उसी प्रकार भूख, प्यास आदि तरगो

---

१ इय अट्ठगुणोवेदी कसिण आराधण उवविधेदि। —भ० आ० ५०७
आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झझा।
अज्जव-मद्दव-लाघवतुट्ठी पल्हादण च गुणा।। —भ० आ० ४०९
तथा देखिए भ० आ० २४-२६

२ सेज्जोवधिसथार भत्त पाण च चयणकप्पगदो।
उवकप्पिज्ज असुद्ध पडिचरिए वा असविग्गे।। ४२४
सल्लेहण पयासेज्ज गध मल्ल च समणुजाणिज्जा।
अप्पाउग्ग व कध करिज्ज सइर वा जपिज्ज।।४२५
ण करेज्ज सारण वारण च खवयस्स चयणकप्पगदो।
उद्देज्ज वा महल्ल खवयस्स किंचणारभ।। —भ० आ० ४२६

३ पचविधे आचारे समुज्जदो सव्वसमिदचेट्ठाओ।
सो उज्जमेदि खवय पचविधे सुट्ठु आयारे।। ४२३
आयारत्थो पुण से दोसे वि ते विवज्जेदि।
तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ।। —भ० आ० ४२७
सविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्स विहरंतो।
जिणवयण सव्वसारस्स होदि आराधओ तादी।। ४००
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवता अडदालीस तु णिज्जवया।। —भ० आ० ६४८

से क्षुभित क्षपकरूपी नौका को निर्यापकाचार्य मधुर हितोपदेश के द्वारा क्षपक के मन को स्थिर रखते हुए समाधिमरण की साधना करा देता है।[1]

सूत्रार्थज्ञ तथा आधारगुणयुक्त निर्यापकाचार्य के पादमूल मे सल्लेखना लेने वाले क्षपक साधु को अनेक गुणो की प्राप्ति होती है। उसके संक्लेश-परिणाम नहीं होते। उसकी रत्नत्रय-साधना मे बाधा नही आती। रोगग्रस्त क्षपक प्रकुर्वीगुणयुक्त निर्यापकाचार्य के पास रहकर तथा शुश्रूषा को पाकर संक्लेश को प्राप्त नही होता है। धैर्यजनक, आत्महितप्रतिपादक और मधुर वाणी वाले निर्यापकत्व गुणधारक निर्यापकाचार्य के पास रहने से साधना सफल होती है। इसीलिए आचारवत्वादि गुणधारक निर्यापकाचार्य की कीर्ति होती है।[2]

योग्य निर्यापकाचार्य के न मिलने पर

आचारवत्वादि गुणो से युक्त योग्य निर्यापकाचार्य या उपाध्याय के न मिलने पर क्षपक के समाधिमरण (सल्लेखना) साधने हेतु प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि अथवा बालाचार्य निर्यापकाचार्य का कार्य कर सकते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र मे विचित्र काल का परावर्तन होता है जिससे कालानुसार प्राणियो के गुणो मे हीनाधिकता आती है। अतएव जिस समय जैसे हीनाधिक

---

१ जह पक्खुभिदुम्मीए पोद रदणभरिद समुद्दम्मि।
णिज्जवओ धारेदि हि जिदकरणो बुद्धिसपण्णो।। ५०३
तह सजमगुणभरिद परिस्सहुम्मीहि सुभिदमाइद्धं।
णिज्जवओ धारेदि हु मुहुरिहिं हिदोवदेसेहिं।। —भ. अ. ५०४
तथा देखे, मूलाचार (वृत्तिसहित) २/८८

२ गीदत्थपादमूले होंति गुणा एवमादिया बहुगा।
ण य होइ संकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवत्ती।। ४४७
खवगो किलामिदंगो पडिचरिय गुणेण णिव्वुदिं लहइ।
तम्हा णिव्विसिदव्वं खवएण पकुव्वयसयासे।। ४५८
धिदिबलकरमादहिद महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ।
सिद्धिसुहमावहंती चत्ता आराहणा होइ।। ५०५
इय णिव्ववओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ।
होइ य कित्ती पथिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स।। —भ. आ. ५०६

शोभनगुणयुक्त निर्यापक मिले उस समय उनसे ही कार्य करा लेना चाहिए।[१] यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ तक सभव हो योग्य निर्यापक का अन्वेषण अवश्य करना चाहिए। अन्यथागति होने पर या समयाभाव की स्थिति में ही हीनाधिक शोभनगुणयुक्त निर्यापक से कार्य चलाना चाहिए, अयोग्य से नहीं।

सल्लेखनार्थ निर्यापकों की संख्या

क्षपक की सल्लेखना कराने हेतु कितने निर्यापक या परिचारक होने चाहिए? इस सन्दर्भ मे अधिकतम ४२, ४४ तथा ४८ निर्यापको की सख्या बतलाई है। संक्लेश-परिणामयुक्त काल मे चार तथा अतिशय सक्लेशकाल मे दो निर्यापक क्षपक का कार्य साध सकते हैं। किसी भी काल मे एक निर्यापक न हो, क्योंकि एक निर्यापक के होने पर वैयावृत्त्यादि ठीक से सम्भव न होने से सक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं और रत्नत्रय के बिना मरण होने से दुर्गति भी होती है।[२] क्षपक की वैयावृत्ति आदि के सन्दर्भ मे कार्यविभाजन करना होता है जिसके लिए एकाधिक परिचारक आवश्यक होते हैं।

सल्लेखना कब और क्यों?

सल्लेखना अथवा समाधिमरण तब स्वीकार किया जाता है जब असाध्य रोगादि से मृत्यु सुनिश्चित लगे। इसमे तप के द्वारा काय और कषायो को कृश किया जाता है। यह मृत्यु का तटस्थभाव से स्वागत है, आत्महत्या नही।

---

१ एदारिसमि थेरे असदि गणत्थे तहा उवज्झाए।
होदि पवत्तो थेरो गणधरवसहो य जदणाए।। ६२९
जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु।
ते तारिसया तदिया चोद्दालीस पि णिज्जवया।। —भ० आ० ६७१

२ गीदत्था भयवता अडदालीस तु णिज्जवया।। ६४८
णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालससयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते।। ६७३
एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परोयवयण च।
वसणमसमाधिमरणं वड्डाहो दुग्गदी चावि।। —भ० आ० ६७४
इह हि जिनेश्वरमार्गे मुनीना सल्लेखना समये हि द्विचत्वारिंशद्भिराचार्यैर्दत्तोत्तमार्थप्रतिक्रमणाभिधानेन देहत्यागो धर्मो व्यवहारेण। —नि.सा., ता. वृ. ९२
तथा देखे, पृ० ६०, टि० न० २, भ० आ० ५१९-५२०, ६७५-६७९

योग्य कारणों के अभाव में सल्लेखना लेने का निषेध किया गया है।[1] अतः मृत्युकाल सन्निकट है या नही इसका ठीक से परीक्षण आवश्यक है।

सदोष-शिष्य के प्रति गुरु-आचार्य का व्यवहार

गृहस्थो के लिए यद्यपि सभी साधु गुरु हैं परन्तु साधुसंघ में भी परस्पर गुरु-शिष्य-भाव होता है। योग्य गुरु का अपने सदोष-शिष्य के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए? इस सन्दर्भ मे निम्न बाते विशेषरूप से चिन्तनीय हैं—

१ **शिष्य के दोषों की उपेक्षा न करे**—यदि कोई शिष्य चारित्र मे दोष लगाता है तो आचार्य को अपने मृदु-स्वभाव के कारण उसके दोषो की उपेक्षा नही करना चाहिए। प्रायश्चित्त देकर उसकी छेदोपस्थापना कराना चाहिए। यदि वह छेदोपस्थापना स्वीकार न करे तो उसका त्याग कर देना चाहिए। यदि ऐसे अयोग्य साधु को गुरु (आचार्य) मोह के कारण सघ मे रखता है और उसे प्रायश्चित्त नही देता है, तो वह गुरु भी प्रायश्चित्त के योग्य है।[2]

२ **पर-हितकारी कटुभाषी भी गुरु श्रेष्ठ है**- शिष्य के दोषो का निवारण न करने वाले मृदुभाषी गुरु शिष्य का अहित करते हैं। ऐसे मृदुभाषी गुरु भद्र नही हैं। जो गुरु शिष्य के दोषो को प्रकट करके उससे प्रायश्चित्त करवाता है, वह गुरु कठोर होकर भी परमकल्याणकारक है, क्योंकि उससे अधिक और कौन उसका उपकारी गुरु हो सकता है।[3] जो जिसका हित करना चाहता है वह उसे हित के कार्यों मे बलात् प्रवृत्त करता है। जैसे बच्चे का हित चाहने वाली माता रोते हुए बच्चे का मुँह फाड़कर बलात् उसे कड़वी दवा पिलाती है, वैसे ही गुरु अपने शिष्य का कल्याण करने के लिए उसे बलात् प्रायश्चित्त देता है। कठोर वचन भी बोलता है। आत्महित-साधक होते

१ तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्ण अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरण पच्छितो होदि हु सामण्णणिव्विणो।। —भ. आ. ७६

२ जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावण च कादव्व।
जदि णेच्छदि छंडेज्जो अह गेण्हदि सोवि छेदरिहो।। —मू. आ. १६८

३ जिब्भाए वि लिहंतो ण भद्दओ जत्थ सारणा णत्थि।। —भ. आ. ४८१/७०३
दोषान् काश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्?
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं.
ब्रूते यः सतत समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः।। —आत्मानुशासन १४२

हुए पर-हित-साधक गुरु दुर्लभ हैं।[१] ऋषियों ने कहा है- 'उपदेश दिया जाने वाला पुरुष चाहे रोष करे, चाहे उपदेश को विषरूप समझे, परन्तु गुरु को हितरूप वचन अवश्य कहना चाहिए'।[२]

३ **शिष्य के दोषों को गुरु अन्यत्र प्रकट न करे**— गुरु पर विश्वास करके ही शिष्य अपने गुप्त दोष उन्हे बतलाता है। अत: गुरु का कर्तव्य है कि वह शिष्य के उन दोषो को अन्य से न कहे।[३]

उपाध्याय का स्वरूप

आचार्य के बाद उपाध्याय का विशेष महत्त्व है। णमोकार मत्र मे पञ्च परमेष्ठियो मे उपाध्याय का आचार्य के बाद दूसरा स्थान है। उपाध्याय वक्तृत्व-कला मे निपुण होता है तथा आगमज्ञ (बारह अङ्गो का ज्ञाता) होता है। इसका मुख्य कार्य अध्ययन और अध्यापन है।[४] इसमे आचार्य के सभी गुण पाए जाते हैं। यह आचार्य की तरह धर्मोपदेश दे सकता है, परन्तु आदेश नही दे सकता

---

१ पिल्लेदूण रडत पि जहा बालस्स मुह विदारित्ता।
पज्जेई घद मया तस्सेव हिद विचितती।। ४७९
तह आयरिओ वि अणुज्जस्स खवयस्स दोसणीहरण।
कुणदि हिद से पच्छा होहिदि कडुओसह वत्ति।। ४८०।।

पाएण वि ताडितो स भद्दओ जत्थ सारणा अत्थि।। ४८१
आदट्ठमेव जे चिंतेदुमुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोगे।
कडुय फरुसेहिं ते हु अदिदुल्लहा लोए।। –भ० आ० ४८३

२. तथा चार्षम्–
रूसउ वा परे मा वा विस वा परियत्तउ।
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया।। –स्याद्वाद मञ्जरी ३/१५/१९

३ आयरियाण वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसि कहेदि ते दोसे। –भ० आ० ४८८

४ बारसगं जिणक्खादं सज्झाय कथित बुधे।
उवदेसई सज्झाय तेणुवज्झाउ उच्चदि।। –मू० आ० ७/१०
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम्।
यदध्येति स्वय चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरु।। –प० अ०, उ० ६६१

है।[1] उपाध्याय के लिए शास्त्रों का विशेष अभ्यास होना आवश्यक है। वह स्वयं श्रुत का अध्ययन करता है और शिष्यो को श्रुत का अध्यापन कराता है। अतः लोकव्यवहार मे सभी लोग इसे आसानी से गुरु समझते हैं। श्रेष्ठ उपाध्याय वही है जो ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्वों का पाठी हो। जैसा कि कहा है— 'रत्नत्रय से सुशोभित, समुद्रतुल्य, अङ्ग और पूर्व-ग्रन्थो में पारङ्गत तथा श्रुत के अध्यापन मे सदा तत्पर महान् साधु उपाध्याय कहलाता है।'[2] इससे इतना स्पष्ट है कि सच्चा उपाध्याय वही है जो स्वयं सदाचार-सम्पन्न हो, आगमग्रन्थों का ज्ञाता हो तथा आगम ग्रन्थों का अध्यापन करता हो। आगम-भिन्न विषयो का उपदेष्टा उपाध्याय नही है। काल-दोष से आज यद्यपि ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्वग्रन्थ न तो उपलब्ध हैं और न उनका कोई ज्ञाता है, फिर भी उन ग्रन्थो के आधार पर लिखे गए कषायपाहुड, षट्खण्डगाम, समयसार आदि के ज्ञाता एवं उपदेष्टा साधु उपाध्याय माने जा सकते हैं।

आचार्य आदि साधु-संघ के पाँच आधार

मूलाचार मे कहा है कि साधु-सघ के पाँच आधार हैं[3]— आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर। जहाँ ये आधार न हो वहाँ रहना उचित नही है, क्योंकि सघ का सचालन इन्ही पर निर्भर है। दीक्षा और अनुशासन आचार्य का कार्य है। अध्ययन-अध्यापन उपाध्याय का कार्य है। सघ का प्रवर्तन (व्यवस्था) करना प्रवर्तक (उपाध्याय की अपेक्षा अल्प-श्रुतज्ञाता) का कार्य है। शिष्यो को कर्तव्यबोध कराकर संयम मे स्थिर करना स्थविर (चिरकालदीक्षित साधु) का कार्य है और गुरु की आज्ञा से साधु-समूह (गण) को साथ लेकर पृथक् विचरते हुए शास्त्र-परम्परा को अविच्छिन्न रखना गणधर (आचार्य-भिन्न, परन्तु आचार्य के सदृश गणरक्षक) का कार्य है। ये पाँच आधार कार्यविभाजन की दृष्टि से हैं। आज इस तरह के साधु-सघ की परम्परा लुप्तप्राय है।

---

१ शेषस्तत्र व्रतादीना सर्वसाधारणो विधिः।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित्।। —पं. अ., उ. ६६२

तथा देखिए, ध. १/१.१ १/३२/५१, पं. अ., उ. ६५९-६६५; मू. आ., वृत्ति ४/१५५

२ रत्नत्रयमहाभूषा अङ्गपूर्वाब्धिपारगाः।
उपाध्याया महान्तो ये श्रुतपाठनतत्पराः।। —मूलाचारप्रदीप ४४७

३ तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरिय उवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य।। १५५
सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ।
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो।। —मू. आ. १५६

साधु (मुनि)

जब श्रावक दर्शन, व्रत आदि के क्रम में आत्म-विकास की ग्यारहवीं प्रतिमा (उद्दिष्टत्याग) में पहुँचकर मात्र एक लगोटीधारी 'ऐलक' हो जाता है तब वह साधु बनने का पूर्ण अभ्यास करता है। 'ऐलक' अवस्था तक वह श्रावक ही कहलाता है। इसके बाद 'ऐलक' की योग्यता की परीक्षा लेकर जब आचार्य उसे विधिपूर्वक अनगार दीक्षा देता है तब वह साधु कहलाता है। साधु बनने के पूर्व धारण की गई एकमात्र लगोटी को भी छोड़कर उसे नग्न दिगम्बर हो जाना पड़ता है। यहाँ भी आत्मशुद्धि की प्रमुखता होती है अन्यथा नग्न होकर भी वह साधु कहलाने के योग्य नही है।

साधु के पर्यायवाची नाम

श्रमण (श्रम = तपश्चरण करने वाला, या समताभाव रखने वाला) , सयत (सयमी), ऋषि (ऋद्धि-प्राप्त साधु), मुनि (मनन करने वाला), साधु, वीतरागी, अनगार (घर, स्त्री आदि का त्यागी), भदन्त (सर्व-कल्याणो को प्राप्त), दान्त (पचेन्द्रिय-निग्रही) और यति (इन्द्रियजयी)— ये सभी साधु के पर्यायवाची हैं।[१] भिक्षु, योगी (तपस्वी), निर्ग्रन्थ (कर्मबन्धन की गाठ से रहित), क्षपणक, निश्चेल, मुण्ड (ऋषि), दिग्वास, वातवसन, विवसन, आर्य, अकच्छ (लगोटी-रहित) आदि शब्द भी तत्तत् विशेषताओ के कारण साधु के पर्यायवाची नाम हैं।[२]

सच्चे साधु के गुण :

सच्चे साधु के लिए सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, उन्नत बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशुवत् निरीह गोचरी-वृत्ति वाला, पवनवत् निःसग सर्वत्र विचरण करने वाला, सूर्यवत् तेजस्वी या सकल तत्त्वप्रकाशक, सागरवत् गम्भीर, मेरुसम अकम्प, चन्द्रसम शान्तिदायक, मणिवत् ज्ञान-प्रभापुञ्जयुक्त, पृथिवीवत् सहनशील, सर्पवत् अनियत-वसतिका मे रहने वाला, आकाशवत् निरालम्बी या निर्लेप तथा सदा परमपद का अन्वेषण

---

१ समणोत्ति संजदो ति य रिसि मुणि साधु ति वीदरागो ति।
णामाणि सुविहिदाण अणगार भदत दतोत्ति।। —मू०आ० ८८८

२ बृहद्नयचक्र ३३२, प्रवचनसार, ता०वृ०, २४९ तथा देखिए, भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन (आ० देशभूषण जी), पृ० ६६६-६७३।

करने वाला कहा है।[1] रत्नकरण्डश्रावकाचार मे भी कहा है—

'विषयों की आशा से रहित, निरारम्भ, अपरिग्रही तथा ज्ञान-ध्यान मे लीन रहने वाले ही प्रशस्त तपस्वी साधु हैं।[2]

अन्यत्र भी कहा है—

मोक्ष की साधना करने वाले, मूलगुणादि को सदा आत्मा से जोड़े रखने वाले तथा सभी जीवो मे समभाव रखने वाले साधु होते हैं।[3]

जो मोक्षमार्गभूत दर्शन, ज्ञान और चारित्र को सदा शुद्धभाव से आत्मसिद्धि-हेतु साधते हैं, वे मुनि हैं, साधु है तथा नमस्कार के योग्य हैं।[4]

वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त, प्रभावशाली, दिगम्बररूपधारी, दयाशील, निर्ग्रन्थ, अन्तरग-बहिरग गाठ को खोलने वाला, व्रतो को जीवनपर्यन्त पालने वाला, गुणश्रेणिरूप से कर्मो की निर्जरा करने वाला, तपस्वी, परीषह - उपसर्गविजयी, कामजयी, शास्त्रोक्त-विधि से आहार लेने वाला, प्रत्याख्यान मे तत्पर इत्यादि अनेक गुणो को धारण करने वाला साधु होता है। उत्सर्ग मार्गानुसार वह स्वर्ग और मोक्षमार्ग का थोडा भी आदेश तथा उपदेश नही करता। विकथा करने का तो प्रश्न ही पैदा नही होता। ऐसे साधु को ही नमस्कार करना चाहिए इतर को नही, भले ही वह श्रेष्ठ विद्वान् क्यो न हो?[5]

---

१ सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहिमंदरिंदु-मणी।
खिदि-उरगंबरसरिसा परमपयविमग्गया साहू।। —ध० १/१ १ १/३१/५१

२ विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।। —र० क० १०

३ णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुजदि साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो।। —मू०आ० ५१२

४ मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दृग्ज्ञप्तिपुरःसरम्।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसज्ञक.।। —प०अ०,उ० ६६७
दंसण-णाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्ध साहू स मुणी णमो तस्स।। —द्रव्यसंग्रह ५४/२२१

५ वैराग्यस्य परा काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभ।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापर.।।६७१
निर्ग्रन्थोऽन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोशुभि.।।६७२
इत्याद्यनेकधाऽनेकै. साधु साधुगुणै श्रितः।
नमस्य श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषा महान्।।६७४

साधु के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग चिह्न

साधु के उपर्युक्त गुणो को बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग गुणो मे विभक्त किया गया है। बहिरङ्ग गुणो से साधु के बाह्यरूप को पहचाना जाता है और अन्तरङ्ग गुणो से साधु के शुद्धोपयोगी आभ्यन्तर स्वरूप को जाना जाता है। वास्तव में साधु को अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनो चिह्नो (लिङ्गो) को धारण करना अनिवार्य है।[१] साधु के बतलाए गए मूल और उत्तरगुणो को धारण करना बहिरङ्ग-चिह्न हैं। मूर्च्छाभाव (आसक्ति) को छोडकर शुद्धात्मभाव मे लीन रहना अन्तरङ्ग-चिह्न है।

साधुओं मे दो प्रकार का चारित्र पाया जाता है— सरागचारित्र और वीतरागचारित्र। छठे गुणस्थान से दशवे गुणस्थान मे स्थित साधु का चारित्र 'सराग-चारित्र' कहलाता है क्योंकि उसकी सम्पूर्ण कषायो का उपशम या क्षय नही हुआ है। जब साधु ग्यारहवे गुणस्थान मे पहुँचकर सम्पूर्ण कषायो का उपशम कर देता है अथवा बारहवे गुणस्थान मे सम्पूर्ण कषायो का क्षय कर देता है तो उस चारित्र को वीतराग चारित्र या यथाख्यात चारित्र कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सभी साधु वीतरागचारित्र का पालन नही कर पाते। भावो के अनुसार प्रतिक्षण उनका गुणस्थान छठे से दशवे तक बदलता रहता है।[२]

सातवे गुणस्थान के बाद ऊपर बढने की दो श्रेणियाँ हैं— उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। उपशमश्रेणी से चढ़ने वाला साधु ग्यारहवे गुणस्थान तक पहुँचकर भी नीचे सातवे गुणस्थान तक अवश्य आता है। यदि परिणामो मे क्रूरता आदि अधिक होती है तो वह प्रथम गुणस्थान तक गिर सकता है, यदि परिणामो मे उत्कृष्ट क्षायिक भाव होते हैं तो क्षपकश्रेणी से ऊपर चढकर अर्हन्त और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। सामान्यत साधु छठे से सातवे गुणस्थान मे परिभ्रमण

नादेश नोपदेश वा नादिशेत् स मनागपि।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुन।। –प०अ०,उ० ६७०
ये व्याख्यायन्ति न शास्त्र, न ददाति दीक्षादिक च शिष्याणाम्।
कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेया।।
–क्रियाकलाप, सामायिक-दण्डकी टीका ३-१-५/१४३

१ जधजादरूवजाद उप्पाडिदकेसमसुग सुद्ध।
रहिद हिंसादीदो अप्पडिकम्म हवदि लिंग।।२०५
मुच्छारभविजुत्त उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंग ण परावेक्ख अपुणब्भवकारण जेण्ह।। –प्र०सा० २०६

२ देखे, गुणस्थान चक्र, पृ ।।।

करता रहता है। इससे नीचे उतरने पर वह वस्तुतः साधु नहीं है, केवल बाह्यवेष हो सकता है। अतएव साधु का चारित्र ऐसा हो कि वह छठे गुणस्थान से नीचे न उतरे।

अब दूसरा विचार यह है कि सभी साधु शुद्ध आत्मध्यानी नहीं हो सकते। उनमे सूक्ष्म रागादि का उदय होने से शुभक्रियाओं में प्रवृत्ति होती है। अधिकांश साधु इसी कोटि के हैं जिनमे सरागचारित्र पाया जाता हैं। सरागचारित्र वाले साधु सच्चे साधु नही हैं, ऐसा नही कहा जा सकता। अन्यथा गुणस्थान-व्यवस्था नही बनेगी। सम्यक्त्व का ज्ञान केवली को ही है क्योंकि मतिज्ञानादि चारो ज्ञानों का विषय रूपी पदार्थ हैं।[१] अत: हम व्यवहार से या बाह्य चिह्नों से ही सम्यक्त्व या चारित्र को जान सकते हैं, निश्चयनय से नही। ऐसी स्थिति मे व्यवहाराश्रित साधु को सरागश्रमण और निश्चयनयाश्रित साधु को वीतरागश्रमण इन दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं। जब तक सज्वलन कषाय (सूक्ष्म साम्पराय) का सद्भाव रहता है तब तक आत्मपरिणमन सराग माना जाता है। उपयोग मे रागादि नही हैं परन्तु राग का उदय दशवे गुणस्थान तक रहता है। अत: वे अशत: शुद्धोपयोगी हैं।

सराग श्रमण (शुभोपयोगी साधु)

छठे से दशवे गुणस्थानवर्ती सराग श्रमण को शुभोपयोगी साधु कहा जाता है, क्योंकि वह वैयावृत्य आदि शुभ-क्रियाओ को करता है। ऐसा साधु अट्ठाईस मूलगुणो और विविध प्रकार के चौरासी लाख उत्तरगुणों को धारण करता है। कहा है—

१ पाँच महाव्रतधारी, तीन गुप्तियों से सुरक्षित, अठारह हजार शील के भेदो से युक्त तथा चौरासी लाख उत्तरगुणो को धारण करने वाला साधु होता है।[२]

२ दर्शन-विशुद्ध, मूलादि-गुणो से युक्त, अशुभराग-रहित, व्रतादि मे राग से सहित साधु सराग श्रमण है।[३]

---

१ रूपिष्ववधे। तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य। —त०सू० १-२७-२८

२ पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः। —ध० १/१.१ १/५१/२

३ दंसणसुद्धिविसुद्धो मूलाइगुणेहि सजओ तह य।

... .

असुहेण रायरहिओ वयाइरायेण जो हु संजुत्तो।

सो इह भणिय सरागो... . ॥ —नयचक्रबृहद् ३३०,३३१

३ जो सात तत्त्वो का भेदपूर्वक श्रद्धान करता है, भेदरूप से जानता है तथा विकल्पात्मक भेदरूप रत्नत्रय की साधना करता है, वह व्यवहारावलम्बी साधु है।[१]

४ शुद्धात्मा मे अनुराग से युक्त तथा शुभोपयोगी चारित्र वाला सरागी साधु होता है।[२]

५ व्यवहारावलम्बी साधु को मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक तेरह प्रकार की क्रियाओ की भावना करनी चाहिए। वे तेरह प्रकार की क्रियाएँ हैं— पञ्च-परमेष्ठी नमस्कार, षडावश्यक, चैत्यालय मे प्रवेश करते समय 'निसिही' शब्द का तीन बार उच्चारण तथा चैत्यालय से बाहर निकलते समय 'असिही' शब्द का तीन बार उच्चारण[३] अथवा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार का चारित्र ही तेरह क्रियाएँ है।[४]

६ अर्हदादि मे भक्ति, ज्ञानियो मे वात्सल्य, श्रमणो के प्रति वन्दन-अभ्युत्थान-अनुगमनरूप विनीत-प्रवृत्ति, धर्मोपदेश, देववन्दन आदि क्रियाएँ शुभोपयोगी साधु की है।[५]

साधु के अट्ठाईस मूलगुण

दिगम्बर जैन साधु के लिए हमेशा जिन गुणो का पालना अनिवार्य है तथा जिनके बिना साधु कहलाने के योग्य नही है उन्हे साधु के मूलगुण कहते हैं। उनकी सख्या अट्ठाईस है[६]– पॉच महाव्रत, पॉच समिति, पाँच इन्द्रियनिग्रह, छ आवश्यक, केशलौंच, आचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन (स्थित-भोजन) और एक-भक्त (एक बार भोजन)।

---

१ श्रद्धान परद्रव्य बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनि ।। –त० सार० ९/५

२ शुभोपयोगिश्रमणाना शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रत्व-लक्षणम्। –प्र०सा०, त०प्र० २४६

३ भावपाहुड, टीका ७८/२२९/११

४ द्रव्यसग्रह, ४५

५ प्रवचनसार, २४६-२५२

६ वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाण।
खिदिसयणमदतधोवण ठिदिभोयणमेगभत्तं च।। –प्र०सा० २०८
मूलगुणा समणाण जिणवरेहिं पण्णत्ता। –प्र०सा० २०९

(क) **पाँच महाव्रत**– पाँच महाव्रत इस प्रकार हैं– १. अहिंसा (हिंसा-विरति), २ सत्य, ३. अचौर्य (अदत्त-परिवर्जन), ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह (धनादि तथा रागादि से विमुक्ति)। इन व्रतों का श्रावक एकदेश (स्थूलरूप) से और साधु सर्वदेश से पालन करते हैं। अतः श्रावक अणुव्रती और साधु महाव्रती कहलाते हैं। इन महाव्रतो के द्वारा क्रमशः हिंसादि पाँचो पापो का पूर्णरूप से त्याग किया जाता है। संयम-पालने हेतु शरीर-धारण आवश्यक होता है जिससे पूर्ण हिंसादि का त्याग सभव नहीं है। इसीलिए सराग सयमी के लिए सूक्ष्म हिंसादि दुर्निवार है। वस्तुतः पूर्णतः वीतराग चारित्र उपशान्तमोह या क्षीणमोह के पूर्व सभव नही है। फिर भी हिंसादि-क्रियाओं मे सामान्यतया साधु की प्रवृत्ति न होने से वह महाव्रती है। वह स्वय आरम्भ आदि क्रियाये नही करता है। सदा गुप्तियों का पालन करता है। आवश्यक होने पर समितियो के अनुसार प्रवृत्ति करता है। अशुभ-क्रियाओ मे कदापि प्रवृत्त नही होता है।

(ख) **पाँच समितियाँ**– चारित्र और सयम में प्रवृत्ति हेतु पाँच समितियाँ बतलाई हैं– १. ईर्या- समिति (गमनागमनविषयक सावधानी), २. भाषा-समिति (वचनविषयक सावधानी), ३ एषणा-समिति (आहार या भिक्षाचर्याविषयक सावधानी), ४. आदाननिक्षेपण-समिति (शास्त्रादि के उठाने-रखने मे सावधानी) और ५ उच्चारप्रस्रवण या प्रतिष्ठापनिका-समिति (मलमूत्रादि-विसर्जनसम्बन्धी सावधानी)। ये समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति मे सहायिका हैं। यदि प्रवृत्ति करना आत्यावश्यक न हो तो तीनो गुप्तियो (मन, वचन और काय की प्रवृत्ति न होना) का पालन करना चाहिए। ये गुप्तियाँ और समितियाँ महाव्रतो के रक्षार्थ कवचरूप है।

(ग) **पाँच इन्द्रियनिग्रह**– स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान) इन पाँच इन्द्रियों को अपने-अपने विषयो (क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द) मे प्रवृत्त होने से रोकना।

(घ) **छः आवश्यक (नित्यकर्म)**– १ सामायिक (सयम) २ चतुर्विंशतिस्तव (चौबीस तीर्थङ्करो के गुणों का कीर्तन), ३. वंदना (ज्येष्ठ एव गुरुओ के प्रति बहुमान प्रकट करना), ४. प्रतिक्रमण (दोषो का परिमार्जन), ५. प्रत्याख्यान (अशुभ-प्रवृत्तियो का त्याग) तथा ६. कायोत्सर्ग (शरीर से ममत्व-त्याग)— ये साधु के छः नित्यकर्म हैं।

(ङ) **शेष सात मूलगुण**– १. लोच या केशलौंच (मस्तक तथा दाढी-मूछ के बालो को अपने या दूसरों के हाथों से उखाड़ना), २ आचेलक्य या नग्नत्व, ३. अस्नान, ४. भूमिशयन (औंधे या सीधे न लेटकर धनुर्दण्डाकारमुद्रा में एक

करवट से प्रासुक भूमि पर सोना), ५ अदन्तधावन (दातो का शोधन न करना), ६ स्थितभोजन (शुद्ध भूमि मे खड़े-खड़े विधिपूर्वक आहार लेना) और ७. एकभक्त (दिन मे एक बार निर्धारित समय पर भोजन करना)— ये दिगम्बर जैन साधु के सात विशेष चिह्न हैं।

लोच से लेकर एकभक्त तक के सात मूलगुण साधु के बाह्य-चिह्न हैं। मयूरपिच्छ और कमण्डलु रखना भी साधु के बाह्य-चिह्न हैं। मयूरपिच्छ से साधु सम्मार्जन करके जीवो की रक्षा करते हैं तथा कमण्डलु मे शुद्ध प्रासुक जल रहता है जो शौचादि क्रियाओ के उपयोग मे आता है। लोच आदि मूलगुण शरीर को कष्टसहिष्णु बनाते हैं तथा पराधीनता से मुक्त करके प्रकृति से तादात्म्य जोड़ते है। लोक-लज्जा तथा लोक-भय का नामोनिशान मिट जाता है। चारित्रपालन मे दृढता आती है। विषयो मे निरासक्ति से वीतरागता बढ़ती है। नीरस एव अल्पभोजी होने तथा सस्कारादि (अस्नान, अदन्तधावन आदि) न करने पर भी स्वस्थ और तेजस्वी होना उनकी आत्मशक्ति का प्रभाव है।

इन मूलगुणो को कभी नही छोड़ना चाहिए। जब मूलगुणो के पालन करने मे अशक्त हो जाए तो आहार आदि का त्याग करके समाधिमरण ले लेना चाहिए। जैसा कि कहा है– 'जब साधु मूलगुणो के पालन करने मे अशक्त हो जाए, शरीर क्षीण हो जाए, आँखो से ठीक दिखालाई न दे तो उसे आहारत्याग करके समाधिमरण ले लेना चाहिए'।[1]

मूलगुणों का महत्त्व– वृक्षमूल के समान मुनि के लिए ये अट्ठाईस मूलगुण (न कम और न अधिक) हैं। इनमे थोड़ी भी कमी उसे साधुधर्म से च्युत कर देती है।[2] मूलगुण-विहीन साधु के सभी बाह्य-योग (क्रियाये) किसी काम के नही हैं, क्योंकि मात्र बाह्ययोगो से कर्मों का क्षय सम्भव नही है।[3] मूलगुणविहीन साधु कभी सिद्धिसुख नही पाता है, अपितु जिन-लिङ्ग की विराधना करता है।[4]

---

१ चक्खु वा दुब्बल जस्स होज्ज सोद वा दुब्बल जस्स।
जघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदु वा।। –भ०आ० ७३

२ यतेर्मूलगुणाश्चाष्टविंशतिर्मूलवत्तरो।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ता कदाचन।।७४३
सर्वैरेभि समस्तैश्च सिद्ध यावन्मुनिव्रतम्।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्र तु यावदशनयादपि।। –प०अ०, उ० ७४४

३ मूल छित्ता समणो जो गिण्हादि य बाहिर जोग।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्सति।। –मू०आ० ९२०

४ मोक्षपाहुड ९८

मूलगुणों के बिना उत्तरगुणों में दृढ़ता सम्भव नहीं है। मूलगुणों को छोड़कर उत्तरगुणों के परिपालन में यत्नशील होकर निरन्तर पूजा आदि की इच्छा रखने वाले साधु का प्रयत्न मूलघातक है। जिस प्रकार युद्ध में मस्तक-छेदन की चिन्ता न कर केवल आंगुलि-छेदन की चिन्ता करने वाला मूर्ख योद्धा विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार केवल उत्तरगुणों की रक्षा करने वाला साधु विनष्ट हो जाता है। अतएव मूलगुणो के मूल्य पर उत्तरगुणो की रक्षा करना योग्य नही है।[1] मूलगुणो की रक्षा करते हुए उत्तरगुणों की रक्षा करना न्यायसंगत है।

शील के अठारह हजार भेद

ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना अतिकठिन है। अतएव साधु के ब्रह्मचर्यव्रत (चतुर्थ महाव्रत) मे किसी प्रकार की कमी न हो एतदर्थ जिन चेतन और अचेतन स्त्री-सम्बन्धो (कामभोग-सबन्धो) मे सावधानी रखनी पड़ती है उन सम्बन्धो की अपेक्षा शील के अठारह हजार भेद (गुण) बतलाए हैं। वस्तुतः पचेन्द्रियो के विषयो से विरक्त होना ही शील है और ये शील व्रतो के रक्षार्थ हैं। इसके भेद दो प्रकार से किए गए हैं[2]—

---

१ मुक्त्वा मूलगुणान् यतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं,
दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः।
एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं,
रक्षत्यङ्गुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो रणे बुद्धिमान्।। —पद्मनंदि पञ्चविंशतिका १/४०
तथा देखें, मूलाचार-प्रदीप, ४/३१२-३१९.

२ वद परिरक्खण सील णाम। —ध ८/३ ४१/८२
सील विसयविरागो। —शील पाहुड ४०
जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साइं।। —मू०आ० १०१७
तिण्ह सुहसजोगो जोगो करण च असुहसंजोगो।
आहारादी सण्णा फासं दिय इंदिया णेया।।१०१८
पुढविउदगागणिवाऊद-पत्तेय अणंतकायिया चेव।
विगतिगचदुपंचेंदिय भोम्मादि हवदि दस एदे।।१०१९
खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो आकिंचणदा।
तह होदि बंभचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा।। —मू०आ० १०२०

(१) **स्त्री-ससर्ग की अपेक्षा**— (**क**) काष्ठ, पाषाण तथा चित्रों मे तीन प्रकार की अचेतन स्त्रियाॅ X मन, काय (वचन नहीं) X कृत, कारित, अनुमोदना X पाँच इन्द्रियाॅ X द्रव्य, भाव X क्रोध, मान, माया लोभ ये चार कषाय = ७२० (३X२X३X५X२X४= ७२०) भेद। ये अचेतन स्त्री-ससर्ग की अपेक्षा से भेद है। (**ख**) देवी, मानुषी तथा तिर्यञ्चिनी ये तीन प्रकार की चेतन स्त्रियाँ X मन, वचन, काय X कृत, कारित, अनुमोदना X पचेन्द्रियाँ X द्रव्य, भाव X आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार सज्ञाये X सोलह कषाय =१७२८० (३ X ३ X ३ X ५ X २ X ४ X १६ = १७२८०) ये चेतन स्त्री-ससर्ग की अपेक्षा से शील के भेद है।

कुल योग— ७२० + १७२८० = १८००० भेद (शील-गुण)।

(२) **स्वद्रव्य-परद्रव्य के विभाग की अपेक्षा शील के भेद**— मन, वचन, काय— ये तीन शुभ क्रिया-योग (मन, वचन, काय का शुभकर्म के ग्रहण करने के लिए होने वाले व्यापार को योग कहते है) X इन्ही के अशुभात्मक प्रवृत्ति रूप तीन करण X आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार सज्ञाये X स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कान ये पाँच इन्द्रियाँ X पृथिव्यादि दस प्रकार के जीव (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय) X दस धर्म (उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य) = १८०००(३ X ३ X ४ X ५ X १० X १० = १८०००) शील के भेद।

उत्तरगुण (चौरासी लाख उत्तरगुण)

उत्तरगुणो की सख्या निश्चित नही रही है। प्रसिद्धि के अनुसार चौरासी लाख उत्तरगुणो की गणना निम्न प्रकार है[१]—

५ पाप + ४ कषाय + ४ दोष (जुगुप्सा, भय, रति और अरति) + ३ मन, वचन, काय की दुष्टताये + ५ दोष (मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनत्व, अज्ञान, पँचेन्द्रिय-निग्रह)— इस तरह २१ दोष X अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार दोष X १०० पृथिवी आदि जीवसमास X १० अब्रह्म (शील-विराधना) के दोष X १० आलोचना दोष X १० उत्तम क्षमादि या प्रायश्चित्तादि शुद्धि

१ मूलाचार १०२५, मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० १६१-१६४, दर्शनपाहुड-टीका ९/८/१८

के भेदों के विपरीत दोष = ८४ लाख (२१ x ४ x १०० x १० x १० x १० = ८४००००००) दोष। इन चौरासी लाख दोषो के विपरीत चौरासी लाख उत्तरगुण जानना चाहिए। वस्तुतः बारह तप, बाईस परीषहजय, बारह भावनाए, पाँच आचार, दश उत्तम-क्षमादि धर्म तथा शील आदि सभी गुण उत्तरगुणो में अन्तर्निहित है और ये मूलगुणो के पोषक है

निषिद्ध-कार्य

(१) **शरीर-संस्कार**– पुत्रादि मे स्नेहबन्धन से रहित तथा अपने शरीर मे भी ममत्व से रहित साधु शरीर-सम्बन्धी कुछ भी सस्कार नही करते। नेत्र, दात, मुख आदि का प्रक्षालन करना, उबटन लगाना, पैर धोना, अग-मर्दन करना, मुट्ठी से शरीर-ताडन करना, काष्ठ से पीड़ना, धूप से सुवासित करना, विरेचन करना (दस्त हेतु दवा आदि लेना), कण्ठ-शुद्धिहेतु वमन करना, अजन लगाना, सुगन्धित तैलादि का मर्दन करना, लेप करना, सलाई बत्ती आदि से नासिकाकर्म एव वस्तिकर्म (एनीमा) करना, शिरावेध (नसो को बेधकर रक्त निकालना) आदि सभी प्रकार के शरीर-सस्कार साधु के लिए निषिद्ध हैं।[1]

(२) **अमैत्री-भाव**– जो साधु मैत्रीभाव-रहित हैं वे कायोत्सर्ग आदि करके भी मोक्ष प्राप्त नही कर सकते। अतएव साधु को सबके प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए।[2]

(३) **क्रोधादि**– क्रोध करना, चचल होना, चारित्रपालन मे आलसी होना, पिशुनस्वभावी होना, गुरुकषाय (तीव्र एव दीर्घकालिक कषाय) होना— ये सब साधु को त्याज्य हैं।[3]

---

१ ते छिण्ण-णेहबधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि।
णं करंति किंचि साहु परिसठप्प सरीरम्मि।। ८३८
मुह-णयण-दतधोयणमुव्वट्टण-पादधोयण चेव।
सवाहण-परिमद्दण-सरीरसठावण सव्व।। ८३९
धूवणवमण-विरेयण-अजण-अब्भगलेवण चेव।
णत्थुय-वत्थियकम्म सिरवेज्झ अप्पणो सव्व।। –मू०आ० ८४०

२ किं तस्स ठाणमोणं किं काहदि अब्भोवगासमादावो।
मेत्तिविहूणो समणो सिज्झदि ण हु सिद्धिकखो वि।। –मू०आ० ९२६

३ चडो चवलो मदो तह साहू पुट्ठिमंस-पडिसेवी।
गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो।। –मू०आ० ९५७

(४) **आहार-उपकरण आदि का शोधन न करना**— आहार, उपकरण, आवास आदि का विना शोधन किए सेवन करने से साधु मूलगुणों से पतित होकर पोलाश्रमण (खोखला या पतित साधु) होता है।[१]

(५) **वञ्चनादि तथा आरम्भ-क्रियाएँ**– ठगने वाला, दूसरो को पीड़ित करने वाला, मिथ्यादोषो को ग्रहण करने वाला, मारण आदि मन्त्र-शास्त्र अथवा हिंसा-पोषक शास्त्रो को पढ़ने वाला और आरम्भसहित साधु चिरकाल-दीक्षित होकर भी सेवनीय नही है।[२]

(६) **विकथा तथा अधःकर्मादि-चर्या**– रागादिवर्धक सासारिक स्त्रीकथा (काम-कथा), राजकथा (राजाओ के युद्ध आदि की कथा), चोरकथा तथा भक्तकथा (भोजन-सम्बधी कथा) इन चार विकथाओ अथवा इसी प्रकार की अन्य लौकिक विकथाओ अर्थ कथा, वैर कथा, मूर्ख कथा, परिग्रह कथा, कृषिकथा आदि विकथाओ[३] तथा अधःकर्मदोष (महादोष = निम्नदोष ऐसे आहार, वसति आदि को स्वीकार करना जिसके उत्पादन मे छह काय के जीवो की हिंसा हो) से साधु को विरत रहना चाहिए।[४]

(७) **पिशुनता, हास्यादि**– पैशुन्य, हास्य, मत्सर, माया आदि करने से साधु नग्न होकर भी अपयश का पात्र होता है।[५]

(८) **नृत्यादि**– नृत्य करना, गाना, बाजा-बाजाना, बहुमान से गर्वयुक्त होकर निरन्तर कलह करना, वाद-विवाद करना, जुआ खेलना, कन्दर्पादि भावनाओ मे निमग्न रहना, भोजन मे रसगृद्धि होना, मायाचारी करना, व्यभिचार करना, ईर्यापथ को सोधे बिना दौड़ते हुए या उछलते हुए चलना, गिर पड़ना, पुन उठकर दौड़ना, महिलाओ मे राग करना, दूसरो मे दोष निकालना, गृहस्थो

---

१ पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जो य भुंजदे समणो।
मूलट्ठाण पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो। –मू०आ० ९१८

२ दभं परपरिवाद पिसुणत्तण पावसुत्त-पडिसेव।
चिरपव्वइदपि मुणी आरभजुद ण सेवेज्ज।। –मू०आ० ९५९

३ मू०आ० ८५५-८५६, गो०जी०, जी० प्र० ४४/८४/१७, नि०सा०,ता० वृ० ६७

४ विकहाइ विप्पमुक्को आहाकम्माइविरहीओ णाणी।। –रयणसार १००

५ अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण।। –भा०पा० ६९

एवं शिष्यों पर स्नेह करना, स्त्रियों पर विश्वास करके उन्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रदान करना (क्योंकि साधु को इनसे दूर रहना चाहिए) आदि। इन कार्यों को करने वाला साधु पार्श्वस्थ (दुष्टसाधु) है, दर्शन-ज्ञान से हीन है तथा तिर्यञ्च या नरक गति का पात्र है।[१]

(९) **वैयावृत्यादि करते समय असावधानी**— वैयावृत्य आदि शुभ-क्रियाओ को करते हुए षट्काय के जीवो को बाधा नहीं पहुँचानी चाहिए।[२] अतएव वैयावृत्यादि शुभक्रियाओं के करते समय समितियों का ध्यान रखकर सावधानी वर्तनी चाहिए, असावधानी नही।

(१०) **अधिक शुभोपयोगी-क्रियायें**— शुभोपयोगी-क्रियाओ में अधिक प्रवृत्ति करना साधु को उचित नही है, क्योंकि वैयावृत्यादि शुभ-कार्य गृहस्थो के प्रधान-कार्य हैं तथा साधुओ के गौण-कार्य। इसी प्रकार दान, पूजा, शील और उपवास— ये श्रावको के धर्म हैं, क्योंकि ये धर्म जीवों की विराधना में भी कारण हैं।[३]

---

१ णच्चदि गायदि ताव वाय वाएदि लिंगरूवेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। ४
कलह वादं जूआ णिच्चा बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरय पाओ करमाणो लिंगिरूवेण।। ६
कदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धि।
मायी लिंग विवाइ तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १२
उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण।
इरियावहधारतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १५
रागो करेदि णिच्च महिलावग्ग परे वा दूसेइ।
दसण-णाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।१७
पव्वज्जहीणगहिय णेहि सासम्मि वट्टदे बहुसो।
आयार-विणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।१८
दसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देहि वीसट्ठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो।। —लिङ्गपाहुड २०

२ जदि कुणदि कायखेद वेज्जावच्चत्थ मुज्जदो समणो।
ण हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से।। —प्र०सा० २५०

३. वही, तथा देखें—
दाण पूजा सीलमुववासो चेति चउव्विहो सावयधम्मो।
एसो चउव्विहो वि छज्जीवविराहओ। —क०पा०, १/१, १/८२/१००/२

(११) **तृण, वृक्ष, पत्रादि का छेदन**— सब जीवो मे दयाभाव को प्राप्त साधु पृथिवी पर विहार करते हुए भी किसी जीव को कभी भी कष्ट नहीं पहुँचाते। जैसे— माता सदा पुत्र का हित चाहती है वैसे ही साधु समस्त प्राणियो का हित चाहते हैं। अतएव वे तृण, वृक्ष, हरित, बल्कल, पत्ता, कोपल, कन्दमूल, फल, पुष्प, बीज आदि का घात (छेदन) न तो स्वय करते है और न दूसरो से कराते हैं।[१] साधु इन कार्यों का अनुमोदन भी नही करते हैं।

(१२) **ज्योतिष, मन्त्र, तन्त्र, वैद्यकादि का उपयोग**— ज्योतिष, मन्त्र, तन्त्र, वशीकरण, मारण, उच्चाटन, जल-अग्नि-विष स्तम्भन, विक्रियाकर्म, धन-धान्यग्रहण, वैद्यक आदि का प्रयोग यश अथवा आजीविका के लिए साधु को वर्जित है। दातार को मन्त्रादि का प्रयोग बताना मन्त्रोपजीविका दोष है।[२] इसी प्रकार हस्तरेखा आदि देखकर भूत, भविष्य या वर्तमान का कथन करना भी साधु को त्याज्य है।

(१३) **दुर्जनादि-संगति**— दुर्जन, लौकिक-जन, तरुण-जन, स्त्री, पुश्चली, नपुसक, पशु आदि की सगति निषिद्ध है। आर्यिका से भी पाच से सात हाथ दूर रहना चाहिए। पार्श्वस्थ आदि भ्रष्टमुनियो से दूर रहना चाहिए।[३]

(१४) **सदोष-वसतिका-सेवन**— वसतिका-सम्बन्धी दोषो से रहित स्थान का ही साधु को सेवन करना चाहिए।[४]

---

१ वसुधम्मि वि विहरता पीड ण करेंति कस्सइ कयाइ।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभडेसु।। ८००
तणरुक्खहरिदछेदण तयपत्तपवालकदमूलाइ।
फलपुप्फबीयघाद ण करेंति मुणी ण कारेंति।। —मू०आ० ८०३

२ जोइसविज्जामतोपजीण वा य वस्सववहार।
धणधण्णपडिग्गहण समणाण दूसण होई।। —र०सार १०९
वश्याकर्षणविद्वेष मारणोच्चाटन तथा।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम्।। ४५०
इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितै।
आत्मानमपि न ज्ञात नष्ट लोकद्वयच्युतै। —ज्ञाना० ४५५
मन्त्रवैद्यकज्योतिष्कोपजीवी राजादिसेवक ससक्त।-चारित्रसार १४४/११

३ भ०आ० ३३१-५५४, १०७२-१०८४, प्र०सा०२६८, रयणसार ४२
पच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वदति।। —मू०आ० १९५

४ देखे, वसतिका, पृ. १००

(१५) **सदोष आहार-सेवन**-- मात्रा से अधिक एवं पौष्टिक भोजन साधु को गृद्धतापूर्वक नही करना चाहिए। गृहस्थ के ऊपर भोजन का भार भी नहीं डालना चाहिए। उद्गमादि भोजनसम्बन्धी दोषो से रहित ही भोजन लेना चाहिए।[१]

(१६) **भिक्षाचर्या के नियमों को अनदेखा करना**-- भिक्षार्थ वृत्ति करते समय साधु को गृहस्थ के घर मे अभिमत स्थान से आगे नही जाना चाहिए। छिद्रो से झांककर नही देखना चाहिए। अति-तंग और अन्धकारयुक्त प्रदेश मे प्रवेश नहीं करना चाहिए। व्यस्त तथा शोकाकुल घर में, विवाहस्थल में, यज्ञशाला मे तथा बहुजनससक्त प्रदेश मे भी प्रवेश नही करना चाहिए। विधर्मी, नीचकुलीन, अतिदरिद्री, राजा, अति-धनाढ्य आदि के घर का आहार ग्रहण नही करना चाहिए।[२]

(१७) **स्वच्छन्द और एकल विहार**-- इस पंचम काल में स्वच्छन्द और अकेले विहार नही करना चाहिए।[३]

(१८) **लौकिक-क्रियाएँ**--- मोह से अथवा प्रमाद से साधु को लौकिक-क्रियाओ मे रुचि नही लेनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह अन्तरङ्ग व्रतों से च्युत हो जाता है।[४]

साधु के लिए ये कुछ निषिद्ध कार्य गिनाए गए हैं। इसी प्रकार अन्य निषिद्ध-कार्यों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए। वस्तुतः साधु के लिए वे सभी कार्य निषिद्ध हैं जिनका हिंसादि से सम्बन्ध हो तथा जो कार्य सासारिक-विषयो मे आसक्तिजनक हो, वीतरागता मे प्रतिबन्धक हो, यश आदि की लालसापूर्ति हेतु किए गए हो।

मिथ्यादृष्टि (द्रव्यलिङ्गी) सदोष साधु

जो साधु मर्यादानुकूल आचरण न करके स्वच्छन्द आचरण करते हैं, आर्तध्यान मे लीन रहते हैं, मूर्ख होकर भी अपने को पण्डित मानते हैं, रागी है, व्रतहीन हैं तथा शरीरादि के पोषण मे प्रवृत्त रहते हैं उन्हें सदोषसाधु, दुष्टसाधु,

---

१ देखे, आहार, पृ० ९६।

२ देखें, भिक्षाचर्या, पृ० ९५।

३ देखे, विहार, पृ० १०३।

४. देखे, पृ० ४९, टि० १

सरागीसाधु, पापश्रमण, पोलाश्रमण, भ्रष्टाचारीसाधु, बाह्यलिङ्गीसाधु, द्रव्यलिङ्गीसाधु, पार्श्वस्थसाधु आदि कहते हैं।[१] इन्हे मूलाचार मे अन्दर से घोडे की लीद के समान निंद्य और बाहर से बगुले के समान दिखावटी कहा है।[२] ये आचार्य की आज्ञा का पालन नही करते तथा कुत्सित उपदेश आदि के द्वारा अपना और दूसरो का अकल्याण करते हैं। अत इन्हें पोला-श्रमण (खोखला-साधु या तुच्छ-श्रमण) भी कहा गया हैं।[३]

मिथ्यादृष्टि साधु के पार्श्वस्थ आदि पाँच भेद

सदोष मिथ्यादृष्टि साधु के पाँच भेद बतलाएँ हैं— १ **पार्श्वस्थ** (निरतिचार सयम का पालन न करने वाला शिथिलाचारी), २ **कुशील**[४] (कुत्सित आचरणयुक्त। मूलगुणो और सम्यक्त्व से भ्रष्ट), ३ **संसक्त**[५] (असयत गृहस्थो मे आसक्त या मन्त्र, ज्योतिष, राजनीति आदि मे आसक्त), ४ **अवसन्न वा अपसंज्ञक** (चारित्र पालने मे आलसी तथा कीचड़ मे फँसे हुए व्यक्ति की तरह पथभ्रष्ट)और ५ **मृगचारित्र** (मृग-पशु की तरह आचरण करने वाला, स्वच्छन्द एकाकी-विहारी)।

ये पाचो प्रकार के साधु रत्नत्रय से रहित तथा धर्म के प्रति मन्दसवेगी

---

१ मू०आ० प्रदीप अ० ३/४५०-४५७

२ घोडयलद्दिसमाणस्स बाहिर वगणिहुदकरणचरणस्स।
अब्भतरम्हि कुहिदस्स तस्स दु कि बज्झजोगेहिं।। –मू०आ० ९६६

३ आयरियकुल मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेस, पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु।। –मू०आ० ९६१
पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जोय भुजदे समणो।
मूलट्ठाण पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो।। –मू०आ० ९१८

४ शील च कुत्सित येषां निंद्यमाचरण सताम्।
स्वभावो वा कुशीलास्ते क्रोधादिग्रस्तमानसा ।।
व्रतशीलगुणैर्हीना अयश कारणे भुवि।
कुशला साधुसगाना कुशीला उदिता खला।। –मू०आ० प्रदीप ३ ५८-५९

५ असक्ता दुर्धियो निन्द्या असस्तृतगुणेषु ये।
सदाहारादिगृद्ध्या च वैद्यज्योतिषकारिण ।।
राजादिसेविनो मूर्खा मन्त्रतन्त्रादितत्परा।
ससक्तास्ते बुधै प्रोक्ता धृतवेषाश्च लपटा।। –मू०आ०, प्रदीप ३ ६०-६१

(उत्साहरहित) होते हैं।[1] ये सभी श्रमण जिनधर्मबाह्य हैं।[2] मर्यादा के विपरीत आचरण करने वाले इन द्रव्यलिङ्गी साधुओं की बहुत निन्दा की गई है।[3] ऐसे मोहयुक्त साधुओं से निर्मोही श्रावक को श्रेष्ठ बतलाया गया है। वे दुःखो को तथा नीच गति को प्राप्त करते हैं।[4] इनके लिए ग्रन्थो मे राज्यसेवक, ज्ञानमूढ, नटश्रमण, पापश्रमण, अभव्य आदि अनेक प्रकार के अपमानजनक शब्द प्रयुक्त हैं।[5]

मिथ्यादृष्टि का आगम-ज्ञान

यद्यपि मिथ्यादृष्टियो को शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता परन्तु वे ग्यारह अंग ग्रन्थो के पाठी तथा उनके ज्ञानी हो सकते हैं। ऐसे वे साधु हैं जो पहले ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि थे परन्तु कालान्तर मे सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि हो गए। यद्यपि परिणामो की अपेक्षा ये सम्यग्दर्शन से रहित होते हैं, परन्तु इनसे जिनागम का उपदेश सुनकर कितने ही भव्यजीव सम्यग्दृष्टि तथा सम्यग्ज्ञानी हो जाते हैं।[6]

---

१ पासत्थो य कुसीलो ससत्तोसण्ण मिगचरित्तो य।
दसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मदसवेगा।। –मू०अ० ५९५
पार्श्वस्थाः कुशीला हि ससक्तवेशधारिण।
तथापगतसज्ञाश्च मृगचारित्रनायकाः।। –मू०आ०, प्रदीप, अ०३,४५३
तथा देखे, भ०आ० १९४९, –चारित्रसार १४३/३
तथा देखे, पृ० ११० वन्दना योग्य कौन नही?

२ एते पञ्च श्रमणा जिनधर्मबाह्या। –चारित्रसार १४४/२

३ भ०आ० २९०-२९३, ३३९-३५९, १३०६-१३१५, १९५२-१९५७

४ ते वि य भणामि ह जे सयलकलासंजमगुणेहिं।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो।। –भावपाहुड १५५
पासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वर खु एक्को वि।
ज ससिदस्स सील दसण-णाण-चरणाणि वड्ढति।। –भ०आ० ३५४
गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने।। –र०क० ३३
पावति भावसमणा कल्लाणपर पराइ सोक्खाइं।
दुक्खाइ दव्वसमणा णरतिरियकुदेवजोणीए।। –भाव पा० १००

५ देखे, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ० ५८९

६. एकादशाङ्गपाठोपि तस्य स्याद् द्रव्यरूपत।
आत्मानुभूतिशून्यत्वाद् भावत सविदुज्झित।। ५.१८
न वाच्य पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थत।
यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञानं विन्दन्ति केचन।। ५ १९
तत पाठोऽस्ति तेषूच्चै पाठस्याप्यस्ति ज्ञातृता।
ज्ञातृतायां च श्रद्धान प्रतीतिः रोचनं क्रिया।। –लाटीसहिता ५.२०

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की पहचान

गुणस्थान प्रतिक्षण बदलता रहता है। हम सर्वज्ञ न होने से किसी के आभ्यन्तर परिणामो को नही समझ सकते। बाह्य-व्यवहार से ही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का निर्णय करते हैं। निश्चयनय से इसका निर्णय करना संभव नही है क्योंकि जितना भी कथन (वचन-व्यवहार) है वह सब व्यवहारपरक ही है। वास्तविक ज्ञान तो सर्वज्ञ को ही सभव है। परिणामो की विशेषता के कारण ही भिन्नदशपूर्वी (१०पूर्वों के ज्ञाता होने पर सिद्ध हुई विद्याओ के लोभ को प्राप्त साधु) भी मिथ्यादृष्टि हैं, क्योकि उनका महाव्रत भग हो जाता है और उनमे जिनत्व घटित नही होता।[1] अभिन्नदशपूर्वी (जो विद्याओ मे मोहित नही होते) सम्यदृष्टि है। उनके महत्त्व को बतलाने के लिए आगम मे चौदहपूर्वी (अप्रतिपाती = पुन मिथ्यात्व को न प्राप्त होने वाला) के पूर्व अभिन्नदशपूर्वी साधुओ को नमस्कार करने का विधान किया गया है।[2] इसका कारण णमोकारमत्र की तरह सिद्धो से पूर्व अर्हन्तो के नमस्कार जैसा है। विद्याओ की सिद्धि होने पर उनके आकर्षण से जो मोहित हो जाते है वे सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि हो जाते है और जो मोहित नही होते वे निरन्तर मुक्ति की ओर अग्रसर होते रहते है।

अपेक्षा-भेद से सच्चे साधुओं के भेद

सच्चे साधुओ (सम्यग्दृष्टि साधुओ) मे वस्तुत कोई भेद न होने पर भी उनके उपयोग आदि अपेक्षाओ से कई प्रकार के भेद किए गए है। जैसे-

(क) **उपयोग की अपेक्षा दो भेद –** ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग की अपेक्षा दो भेद हैं— १ शुद्धोपयोगी (पूर्ण वीतरागी, निरास्रवी) तथा २ शुभोपयोगी (सरागी, सास्रवी)।[3] शुभोपयोगी साधु अर्हन्त आदि मे भक्ति से युक्त होता है

---

१ तत्थ दसपुव्विणो भिण्णाभिण्णभेएण दुविहा होंति। एव दुक्काण सव्वविज्जाण जो लोभ गच्छदि सो भिण्णदसपुव्वी। जो ण तासु लोभं करेदि कम्मखयत्थी होंति सो अभिण्णदसपुव्वी णाम। ण च तेसिं (भिण्णदसपुव्वीण) जिणत्तमत्थि भग्गमहव्वएसु जिणत्ताणुववत्तीदो। –ध० ९/४ १ १२/६९/५, ७०/१

२ चोद्दसपुव्वहराण णमोक्कारो किण्ण कदो? ण, जिणवयणपच्चयट्ठाणपदुप्पायणदुवारेण पुव्व दसपुव्वीण णमोक्कारो कुदो –ध० ९/ ४ १ १२/७०/३
चोद्दसपुव्वहरो मिच्छत्त ण गच्छदि। –ध० ९/४ १ १३/७९/९

३ समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्तो ये होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा।। –प्र०सा० ३ ४५

तथा वृद्धादि साधुओं की वैयावृत्य आदि के निमित्त शुभ-भावों से लौकिक जनों से वार्तालाप कर सकता है।[1] छठे से दशवे गुणस्थानवर्ती साधु सराग चारित्र का धारक होता है। शुद्धोपयोगी साधु आत्मलीन होता है। वह यथाख्यात चारित्र का धारक होता है। यह स्थिति दसवे गुणस्थान के बाद आती है।

(ख) **विहार की अपेक्षा दो भेद**– जिसने जीवादि तत्त्वो को अच्छी तरह जान लिया है उसे एकाकी विहार करने की आज्ञा है, परन्तु जिसने उन्हें अच्छी तरह से नही जाना है उसे एकलविहार की आज्ञा नहीं है। सामान्य साधु को सघविहारी होना चाहिए। इस तरह विहार की अपेक्षा एकलविहारी और साधुसघविहारी ये दो भेद बनते हैं।[2] इस पचम काल मे एकलविहार की अनुमति नही है।[3]

(ग) **आचार और संहनन की उत्कृष्टता-हीनता की अपेक्षा दो भेद**– जो उत्तम सहनन के धारी हैं तथा सामायिक चारित्र का पालन करते हैं वे 'जिनकल्पी' (कल्प =आचार, जिनकल्प=जिनेन्द्रदेववत् आचार) तथा जो अल्पसहनन वाले हैं तथा छेदोपस्थापना चारित्र मे स्थित है वे 'स्थविरकल्पी' साधु कहलाते हैं।[4] इस पंचम काल मे हीन सहनन वाले स्थविरकल्पी साधु हैं। मूलाचार

---

१ अरहतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तसु।
विज्जदि जदि सासण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया।। –प्र.सा. ३ ४६
वेज्जावच्चणिमित्त गिलाणगुरुबालबुड्ढसमणाण।
लोगिगजणसभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।। –प्र.सा. ३ ५३

२ गिहिदत्थे य विहारो विदिओऽगिहिदत्थससिदो चेव।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं।। –मू.आ. १४८

३ देखे, विहार।

४ दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
जो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसहणणधारिस्स।।
... जिण इव विहरति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा।।
–भावसंग्रह (देवसेनकृत) ११९-१२३

थविरकप्पो वि कहिओ . . ।
. सहणण अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो। -भावसग्रह- १२४-१३१
जिनकल्पो निरूप्यते, जिना इव विहरन्ति इति जिनकल्पिका।
–भ.आ., वि. १५५/३५६/१७

श्रीवर्द्धमानस्वामिना प्राक्तनोत्तमसहननजिनकल्पचारणपरिणतेषु तदेकधाचारित्रम्। पचमकालस्थविरकल्पाल्पसंहननसयमिषु त्रयोदशधोक्तम्। –गो.कर्म./जी.प्र. ५४७/७१४/५

मे आया है कि आदिनाथ के काल के जीव सरल-स्वभावी थे, अतः उनका शोधन अति कठिन था। चौबीसवे तीर्थङ्कर के काल के जीव कुटिल हैं, अतः उनसे चारित्र का पालन करवाना कठिन है। इन दोनो कालों के जीव आचार और अनाचार का भेद नही कर पाते है। अत इन्हे छेदोपस्थापना चारित्र का कथन किया गया है। दूसरे से तेईसवे तीर्थङ्कर तक के काल के जीव विवेकी थे जिससे उन्हे सामायिकचारित्र का उपदेश दिया गया था।[१]

(घ) **वैयावृत्य की अपेक्षा दश भेद**– वैयावृत्ति के योग्य दस प्रकार के साधु हैं, अन्य नही। जब कोई साधु व्याधिग्रस्त हो जाए, या उस पर कोई उपसर्ग आ जाए या वह सत्-श्रद्धान से विचलित होने लगे तो क्रमश उसके रोग का प्रतिकार करना, सकट दूर करना तथा उपदेशादि से सम्यक्त्व मे स्थिर करना वैयावृत्य तप है। जिनकी वैयावृत्ति करनी चाहिए, उनके नाम हैं— १ आचार्य, २ उपाध्याय , ३ तपस्वी, ४ शैक्ष (शिष्य = जो श्रुत का अभ्यास करते हैं), ५ ग्लान(रोगी), ६ गण (वृद्धमुनियो की परिपाटी के मुनि), ७ कुल (दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा), ८ सघ, ९ साधु (चिरदीक्षित साधु) और १० मनोज्ञ (लोक मे मान्य या पूज्य)[२]। इसी भेद से साधु के दश भेद हैं।

(ड) **चारित्र-परिणामों की अपेक्षा पुलाकादि पाँच भेद**– चारित्र-परिणामो की अपेक्षा सच्चे साधुओ के पाँच भेद हैं[३]— १ **पुलाक**– उत्तरगुणो की चिन्ता न करते हुए कभी-कभी मूलगुणो मे दोष लगा लेने वाले अर्थात् पुआल-सहित चावल की तरह मलिनवृत्ति वाले। ये मरकर बारहवे स्वर्ग तक जा सकते है। २ **बकुश**– बकुश का अर्थ है चितकबरा अर्थात् निर्मल आचार मे कुछ धब्बे पड़ जाना। मूलगुणो से निर्दोष होने पर भी कमण्डलु, पिच्छी आदि मे ममत्व रखने वाले साधु बकुश कहलाते है। ये मरकर सोलहवे स्वर्ग तक जा सकते हैं।

---

१ बावीस तित्थयरा सामाइयसजम उवदिसति।
छेदुवट्ठावणिय पुण भयव उसहो य वीरो य।।५३५
आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्प ण जाणति।। –मू॰आ॰ ५३७

२ गुणधीए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुव्वले।
साहुगणे कुले सघे समणुण्णे य चापदि।। –मू॰आ॰ ३९०
आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसघसाधुमनोज्ञानाम्। –त॰ सू॰ ९/२४

३ पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्था। –त॰सू॰ ९/४६

३. कुशील— इसके दो भेद हैं— प्रतिसेवना-कुशील (कभी-कभी उत्तरगुणो में दोष लगा लेने वाले) और कषाय-कुशील (संज्वलन कषाय पर पूर्ण अधिकार-रहित)। ये मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जा सकते हैं। ४. निर्ग्रन्थ— इन्हे अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। इनके मोहनीय कर्म का उदय नही रहता। शेष घातिया कर्म भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही ठहरते। ये मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जा सकते हैं। ५ स्नातक— जिनके समस्त घातिया कर्म नष्ट हो गए हैं, ऐसे सयोगकेवली और अयोगकेवली। ये मरकर नियम से मोक्ष जाते हैं।

पुलाकादि साधु मिथ्यादृष्टि नहीं

ये पाँचो ही साधु सम्यग्दृष्टि हैं तथा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ चारित्र वाले हैं। इनमे चारित्ररूप परिणामो की अपेक्षा न्यूनाधिकता के कारण भेद होने पर भी नैगम, सग्रह आदि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ हैं।[१] ये पुलाकादि तीनो प्रकार के मुनि दोषो को दोष मानते हैं तथा उन्हे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अत: इनके ये साधारण दोष इन्हे मुनिपद से भ्रष्ट नहीं करते। जो भ्रष्ट हो और भ्रष्ट होता चला जाए, वह सच्चा मुनि नही है। पुलाकादि मुनि छेदोपस्थापना द्वारा पुन सयम मे स्थित होते है, अत सच्चे साधु हैं।

निश्चय-नयाश्रित शुद्धोपयोगी साधु

जो साधु केवल शुद्धात्मा मे लीन होता हुआ अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग व्यापार से रहित होकर निस्तरण समुद्र की तरह शान्त रहता है, स्वर्ग एव मोक्षमार्ग के विषय मे थोड़ा-सा भी उपदेश या आदेश नही करता है, लौकिक उपदेशादि से सर्वथा दूर है, वैराग्य की परमोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त है, अन्तरग और बहिरग मोहग्रन्थि को खोलता है, परीषहो और उपसर्गों से पराजित नही होता है, कामरूप-शत्रु-विजेता होता है तथा इसी प्रकार अन्य अनेक गुणो से युक्त होता है, वही निश्चय नय से साधु है। ऐसा साधु ही वास्तव मे नमस्कार के योग्य है, अन्य नही।[२] इसी प्रकार अन्य गुणपरक लक्षण निश्चयसाधु के मिलते हैं, जैसे—

---

१ त एते पञ्चापि निर्ग्रन्था। चारित्रपरिणामस्य प्रकर्षापकर्षभेदे सत्यपि नैगमसग्रहादिनयापेक्षया सर्वेऽपि ते निर्ग्रन्था इत्युच्यन्ते। —स.सि. ९/४६ विशेष के लिए देखिए, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ४, पृ. ४०९

२. आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम्।
स्तमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनि ।।

.. . .

नमस्यः श्रेयसेऽवश्य नेतरो विदुषा महान्।। —पं.अ.,उ. ६६९-६७४

१ जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग, सुख और दुःख, प्रशंसा और निन्दा, ढेला और सुवर्ण, जीवन और मरण सभी मे समता है, वही श्रमण है।[1]

२ जो निष्परिग्रही एव निरारम्भ है, भिक्षाचर्या मे शुद्ध-भाव वाला है, एकाकी ध्यान मे लीन है तथा सभी गुणो से पूर्ण है, वही साधु है।[2]

३ जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप शुद्धात्मा की साधना करता है वही साधु है।[3]

४ जो निजात्मा को ही रत्नत्रयरूप से देखता है वही निश्चय से साधु है।[4]

शुद्धोपयोगी साधु की प्रधानता

शुद्धोपयोगी साधु की प्रधानता के सम्बन्ध मे अनेक प्रमाण शास्त्रो मे मिलते है—

१ बगुले की चेष्टा के समान अन्तरङ्ग मे कषायो से मलिन साधु की बाह्य-क्रियाये किस काम की? वह तो घोडे की लीद के समान ऊपर से चिकनी और अन्दर से दुर्गन्धयुक्त है।[5]

२ वनवास, कायक्लेशादि तप, विविध उपवास, अध्ययन, मौन आदि क्रियाएँ— ये सब समताभाव से रहित साधु के किसी काम की नही हैं।[6]

३ सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, मूलगुण, परीषहजय आदि उत्तरगुण, चारित्र, षडावश्यक,ध्यान, अध्ययन आदि सब ससार के कारण है।[7]

---

१ समसत्तुबधुवग्गो समसुहदुक्खो पससणिदसमो।
समलोट्ठुकचणो पुण जीवितमरणे समो समणो।। –प्र.सा. २४१

२ णिस्सगो णिरारभो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य।
एगागी झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो।। –मू.आ. १००२

३ अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूप साधयन्तीति साधव। –ध. १/१ १ १/५१/१

४ स्वद्रव्य श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तम।। –त. सा. ९/६

५ देखे, पृ. ८०, टि.न. २

६ कि काहदि वनवासो कायकलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स।। –नि.सा. १२४

७ वयगुणसीलपरीसयजय च चरिय च तव सडावसय।
झाणज्झयण सव्व सम्मविणा जाण भाव-वीय।। –र.सार १२७

४. अकषायपना ही चारित्र है। कषाय के वशीभूत होने वाला असंयत है। जब कषायरहित है, तभी संयत है।[१]

५. सब धर्मों का पूर्णरूप से पालन करता हुआ भी यदि आत्मा की इच्छा नहीं करता तो वह सिद्धि को प्राप्त नही होता, अपितु संसार में ही भ्रमण करता है।[२]

६ इन्द्रिय-सुखो के प्रति व्याकुल द्रव्यलिङ्गी श्रमण भववृक्ष का छेदन नही करते, अपितु भावश्रमण ही ध्यानकुठार से भववृक्ष छेदते हैं।[३]

७ बाह्यपरिग्रह से रहित होने पर भी जो मिथ्यात्वभाव से मुक्त नहीं है वह निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करके भी परिग्रही है। उसके कायोत्सर्ग, मौन आदि कुछ नही होते।[४] ऐसे द्रव्यलिङ्गी श्रमण आगमज्ञ होकर भी श्रमणाभास ही हैं।[५]

क्या गृहस्थ ध्यानी (भावसाधु) हो सकता है?

निश्चय साधु का स्वरूप जानने के बाद शंका होती है कि क्या गृहस्थी मे रहकर भी सयम, ध्यान आदि साधा जा सकता है? यदि सम्भव है तो द्रव्यलिङ्ग (नग्नरूप) धारण करने की क्या आवश्यकता है? हम कह सकते हैं 'हम तो भाव से शुद्ध है, बाह्यक्रियाओ से क्या'? परन्तु यह कथन सर्वथा अनुचित है, क्योंकि भावशुद्धि के होने पर बाह्य-शुद्धि आए बिना नही रह सकती है। अतः अचार्यों ने बाह्यलिङ्गी और अन्तरङ्गलिङ्गी का समन्वय बतलाया है। दोनो एक दूसरे के पूरक हैं, विपरात किनारे नही हैं। आचार्यों ने गृहस्थ के परमध्यान का निषेध किया है, क्योंकि गृहस्थी की उलझनो मे रहने से वह निर्विकल्पी नही बन सकता है। कहा है—

---

१ अकसाय तु चारित्त कसायवसिओ असजदो होदि।
उवसमदि जम्हि काले तक्काले सजदो होदि। —मू.आ. १८४

२ अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइ करेइ णिरवसेसाइ।
तह वि ण पावदि सिद्धि ससारत्थो पुण भणिदो।। —सूत्र पा. १५

३ जे के वि दव्वसमणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदति भावसमणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं।। —भाव पा. १२२

४ बहिरगसगविमुक्को णा वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो।
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसम्मभावं।। —मोक्षपाहुड ९७

५ आगमज्ञोऽपि श्रमणाभासो भवति। —प्र.सा., त.प्र. २६४

१ आकाशपुष्प अथवा खरविषाण कदाचित् सम्भव हो जावें, परन्तु गृहस्थ को किसी भी देश-काल मे ध्यानसिद्धि सम्भव नही है।[१]

२. मुनियों के ही परमात्मध्यान घटित होता है। तप्त लोहे के गोले के समान गृहस्थो को परमात्म-ध्यान सम्भव नही है।[२]

३ दान और पूजा, ये श्रावको (गृहस्थो) के मुख्य कर्म हैं, इनके बिना श्रावक नही होता। साधु का मुख्य धर्म ध्यान और अध्ययन है, इनके बिना कोई साधु नहीं होता।[३]

शुभोपयोगी-साधु : और शुद्धोपयोगी-साधु : समन्वय

जैसा कि ऊपर कहा गया है 'मुनियो के ही आत्मध्यान घटित होता है, गृहस्थो के नही'। इससे स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मध्यान करने के लिए बाह्यलिङ्ग धारण करना आवश्यक है। दोनो एक दूसरे के पूरक हैं, अलग-अलग किनारे नही। अत शास्त्रो में कहा है– साधु बनते ही शुद्धात्मा का ध्यान सभव नही है। अत साधु बाह्य लिङ्ग को धारण करके पहले शुभोपयोगरूप सरागचारित्र का पालन करता है। पश्चात् अभ्यासक्रम से शुद्धात्मध्यानरूप शुद्धोपयोगी बनता है। दोनो मे पूज्यता है।

१ जो मुनिराज सदा तत्त्वविचार मे लीन रहते हैं, मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) की आराधना जिनका स्वभाव है तथा प्रसङ्गत निरन्तर धर्मकथा मे लगे रहते हैं वे यथार्थ मुनिराज हैं।[४] इस तरह यथावसर रत्नत्रय की आराधना और धर्मोपदेशरूप दोनो क्रियाएँ मुनिराज करते हैं।

२ जो श्रमण [अन्तरग मे] सदा ज्ञान-दर्शन आदि मे प्रतिबद्ध रहते हैं और [बाह्य में] मूलगुणो मे प्रयत्नशील होकर विचरते हैं वे परिपूर्ण श्रमण हैं।[५]

---

१ खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे।। –ज्ञानार्णव ४/१७

२ मुनीनामेव परमात्मध्यान घटते। तप्तलोहगोलकसमानगृहिणा परमात्मध्यान न सगच्छते।
–मोक्षपाहुड, टीका २/३०५/९

३ दाण पूजा मुक्ख सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाझयण मुक्ख जइ धम्म ण त विणा तहा सोवि।। –र.सार ११

४ तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणसहावजुदो।
अणवरयं धम्मकहापसगादो होइ मुणिराओ।। –र.सार ९९

५ चरदि णिबद्धो णिच्च समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो।। –प्र.सा. २१४

३. शुभोपयोगी का धर्म के साथ एकार्थ-समवाय होने से शुभोपयोगी भी श्रमण हैं, परन्तु शुद्धोपयोगियों के साथ बराबरी सम्भव नहीं है, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायों से रहित होने से निरास्रवी हैं और शुभोपयोगी कषायकण (अल्पकषाय) से युक्त होने के कारण सास्रवी (आस्रव-सहित) हैं।[१] इससे स्पष्ट है कि शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी दोनो पूज्य हैं। उनमे जो अन्तर है वह पूज्यता के अतिशय मे हैं क्योंकि वे गुणस्थानक्रम मे ऊपर हैं। परन्तु हम अल्पज्ञ दोनो में अन्तर नही कर सकते क्योंकि 'कौन सच्चा आत्मध्यानी है' यह सर्वज्ञ ही जान सकते हैं। हम केवल बाह्य-क्रियाओ से अनुमान कर सकते हैं। बाह्य क्रियाओ के अलावा हमारे पास कोई दूसरा मापदण्ड नहीं है। जो अन्दर से शुद्ध होगा उसकी बाह्य क्रियाएँ भी शुद्ध होगी। जिसकी बाह्य क्रियाएँ शुद्ध नही है वह अन्दर से शुद्ध नहीं हो सकता।

४. शुद्धात्म-परिणति से परिणत श्रमण जब उपसर्गादि के आने पर स्वशक्त्यनुसार उससे बचने की इच्छा करता है तब वह शुभोपयोगी का प्रवृत्तिकाल होता है और इससे अतिरिक्त काल शुद्धात्मपरिणति की प्राप्ति के लिए होने से निवृत्तिका काल होता है।[२]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि श्रमणो के सदा-काल शुद्धात्म-परिणति सम्भव नही है। वह तो क्षीणकषाय वाले केवलियो मे ही सम्भव है। इससे पूर्वकाल मे उपशमश्रेणी के ग्यारहवें गुणस्थान तक तो कम से कम क्षुधादि परीषहो की सम्भावना होने से उनके निवृत्यर्थ शुभोपयोगी बनना ही पड़ता है। सातवे गुणस्थान से लेकर ऊपर के गुणस्थान ध्यानी मुनियो के हैं। छद्मस्थ मुनियो का ध्यान भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक एकरूप नही रहता है। ऐसी स्थिति मे शुभोपयोग का सर्वथा परित्याग सम्भव नही है। क्षपकश्रेणी वाले मुनि भले ही निरन्तर आगे

---

१ तत शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद् भवेयु श्रमणा· किन्तु तेषा शुद्धोपयोगिभि· सम समकाष्ठत्वं न भवेत्, यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव। इमे पुनरनवकीर्णकषायकणत्वात् सास्रवा एव। —प्र.सा./त.प्र. २४५

२. यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योपनिपातः स्यात् स शुभोपयोगिन· स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकाल.। इतरस्तु स्वय शुद्धात्मवृत्ते समधिगमनाय केवल निवृत्तिकाल एव। —प्र.सा./त.प्र. २५२

बढ़ जाएँ परन्तु उपशम-श्रेणी वालो को तो कम से कम सातवें गुणस्थान तक अवश्य नीचे उतरना है। इस तरह मुनि की ध्यानावस्था को छोड़कर शेषकाल मे मुनि छठे-सातवे गुणस्थान से ऊपर नही रहते हैं। इस समय इसे कुछ क्रियायें अवश्य करनी पड़ती हैं जिनमे वह पाँचो समितियो का ध्यान रखता है। ये क्रियायें शुभोपयोगी की होती हैं। अत शुभोपयोगी मुनि पूज्य नही हैं, ऐसा नही कहा जा सकता है। देवसज्ञक अर्हन्तावस्था के पूर्व जो आचार्य- उपाध्याय-साधु रूप श्रमणावस्था (गुरु-अवस्था) है उसमे व्यवहार और निश्चय दोनो नयों से शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी श्रमणावस्थाओ का समन्वय जरूरी है।

आहार

आहार का अर्थ और उसके भेद

सामान्य भाषा मे आहार शब्द का अर्थ है 'मुख से ग्रहण किए जाने वाला 'भोजन'। तीन प्रकार के स्थूल शरीरो (औदारिक, वैक्रियक और आहारक) और छह प्रकार की पर्याप्तियो (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) के योग्य पुद्‌गलो (पुद्गलवर्गणाओ) के ग्रहण करने को पारिभाषिक शब्दो मे आहार कहते है।[1] इस प्रकार का आहार केवल मुख से ही ग्रहण नही किया जाता, अपितु शरीर, रोमकूप आदि से भी गृहीत होता है। जैनागमो मे विविध प्रकार से आहार के भेदो का उल्लेख मिलता है। जैसे— १ कर्माहारादि, २ खाद्यादि, ३ काजी आदि और ४ पानकादि।[2] इनमे से कर्माहारादि का विवरण निम्न प्रकार है—

१ **कर्माहार**— जीव के शुभ-अशुभ परिणामो से प्रतिक्षण स्वभावत कर्मवर्गणाओ (पुद्गल-परमाणुओ) का ग्रहण करना कर्माहार है। यह सभी ससारी जीवो मे पाया जाता है।

२ **नोकर्माहार**— शरीर की स्थिति मे हेतुभूत वायुमण्डल से प्रतिक्षण स्वत प्राप्त वर्गणाओ का ग्रहण करना नोकर्माहार है। यह आहार 'केवली' के विशेष रूप से बतलाया गया है।[3] यह आहार औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर वालो के होता है।

---

१ त्रयाणा शरीराणा षण्णा पर्याप्तीना योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः। —स.सि. २/३०

२ ध. १/१ १ १७६/४०९, मू. आ. ६७६, अन. ध. ७ १३, लाटी स २ १६-१७

३ समय समय प्रत्यनन्ता परमाणवोऽनन्यजनासाधारणाः। शरीरस्थितिहेतवः पुण्यरूपाः शरीरे सम्बन्ध यान्ति नोकर्मरूपा अर्हत् उच्यते, न त्वितरमनुष्यवद् भगवति कवलाहारो भवति। —बोधपाहुड ३४

३. **कवलाहार**— जो शरीर-पोषण हेतु आहार की वस्तु मुख से ग्रहण की जाए वह कवलाहार है। अर्थात् लोकप्रसिद्ध खाद्य, पेय आदि वस्तुओं का मुख द्वारा ग्रहण करना कवलाहार है। 'केवली' के कवलाहार नहीं बतलाया गया है।[1] शेष मुनि कवलाहार लेते हैं।

४ **लेप्याहार**— तेल-मर्दन, उबटन आदि करना। यह मुनि को वर्जित है।

५. **ओजस् आहार** (ऊष्माहार)— पक्षियो के द्वारा अपने अण्डों को सेना ओजस् आहार है।

६. **मानसाहार**— मन में चिन्तन करने मात्र से आहार कि पूर्ति हो जाना मानसाहार है। यह देवों का होता है, वे कवलाहार नहीं करते।

इन आहारो मे से यहाँ साधु-प्रकरण मे केवल 'कवलाहार' का विशेषरूप से विचार किया गया है क्योंकि कवलाहार के बिना लोक व्यवहार मे जीवन धारण करना सम्भव नही है। अत साधु आहार क्यो करे? कैसा करे? कितना करे? कब करे? आदि का विचार यहाँ प्रस्तुत है।

आहार-ग्रहण के प्रयोजन

निम्न कारणो से साधु आहार लेवे—

१ **शरीर-पुष्टि आदि के लिए नहीं, अपितु संयमादि-पालनार्थ**— बल-प्राप्ति के लिए, आयु बढ़ाने के लिए, स्वाद के लिए, शरीरपुष्टि के लिए, शरीर के तेज को बढाने के लिए साधु आहार (भोजन) नही लेते, अपितु ज्ञान-प्राप्ति के लिए, सयम पालने के लिए तथा ध्यान लगाने के लिए लेते हैं।[2]

२. **धर्मसाधन-हेतु, शरीर की क्षुधा-शान्ति तथा प्राणादि-धारणार्थ**— भूख की बाधा उपशमन करने के लिए, सयम की सिद्धि के लिए, स्व-पर की वैयावृत्ति के लिए, आपत्तियो का प्रतिकार करने के लिए, प्राणो की स्थिति बनाये रखने के लिए, षडावश्यक-ध्यान-अध्ययन आदि को निर्विघ्न चलाते रहने के लिए मुनि को आहार लेना चाहिए।[3]

१ वही।

२ ण बलाउसाउअट्ठ ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठ।
णाणट्ठ सजमट्ठ झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो। —मू.आ. ४८१ तथा देखिए, रयणसार ११३

३ क्षुच्छमं संयम स्वान्यवैयावृत्यसुस्थितम्।
वाञ्छन्नावश्यकं ज्ञानध्यानादींश्चाहरेन्मुनि:।। —अन. ध. ५/६१
वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संयमट्ठाए।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ।। —मू.आ. ४७९

जैसे 'गाड़ी का धुरा ठीक से काम करे' एतदर्थ उसमें थोड़ी सी चिकनाई लगाई जाती है वैसे ही प्राणो के धारण के निमित्त मुनि अल्प आहार लेते हैं। प्राणों का धारण करना धर्म-पालन के लिए है और धर्म-पालन मोक्ष-प्राप्ति में निमित्त है।[१] अर्थात् 'शरीर धर्मानुष्ठान का साधन है' ऐसा जानकर मुनि शरीर से धर्म-साधने के लिए प्राणो के रक्षार्थ आहार ग्रहण करते हैं। शरीर से धर्म-साधना के न होने पर सर्वविध आहार-त्यागरूप सल्लेखना ग्रहण करते हैं।

३ मात्र शरीर-उपचारार्थ औषध आदि की इच्छा नहीं– ज्वरादि के उत्पन्न होने पर मुनि पीड़ा को सहन करते हैं, परन्तु शरीर के इलाज की इच्छा नही करते।[२] यदि श्रावक निरवद्य (शुद्ध) औषधि देवे तो आहार के समय ले सकते हैं परन्तु न तो किसी से माग सकते है और न प्राप्ति की इच्छा कर सकते हैं।

आहार-त्याग के छः कारण

आतङ्क (आकस्मिक असाध्य रोग आदि), उपसर्ग, ब्रह्मचर्यरक्षा, प्राणिदया, तप और सल्लेखना (शरीर-परित्याग)– इन छः कारणो अथवा इनमे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर साधु को आहार का परित्याग कर देना चाहिए।[३]

आहार-विधि आदि

दिगम्बर जैन साधु इन्द्रियो को वश मे रखने के लिए, सयम पालन करने के लिए दिन के मध्याह्न मे एक बार[४], सकेतादि बिना किए, मौनपूर्वक[५], खड़े-

---

१ अक्खोमक्खणमेत्त भुजंति मुणी पाणधारणणिमित्त।
पाण धम्मणिमित्त धम्म पि चरति मोक्खट्ठ।। –मू.आ. ८१७
तथा देखिए, र. सा. ११६, पद्म पु. ४/९७, अन. ध. ४/१४०, ७/९

२ उप्पण्णम्मि य वाही सिरवेयण कुक्खिवेयण चेव।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिछ ण इच्छति।। –मू.आ. ८४१

३ आदके उवसग्गे तिरक्खणे बभचेरगुत्तीओ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहार वोच्छेदो।। –मू. आ. ४८०

४. उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्त तु।। –मू. आ. ३५
एक खलु त भत्त अप्पडिपुण्णोदर जधालद्ध।
चरण भिक्खेण दिवा ण रसवेक्ख ण मधु मंसं।। –प्र. सा. २२९

५. ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थ ण वि य किंचि जायति।
मोणव्वदेण मुणिणो चरति भिक्ख अभासता।। –मू.आ. ८१७
भिक्षां परगृहे लब्धा निर्दोषां मौनमास्थिता:। –पद्मपुराण ४/९७

खड़े[1], अञ्जलि बांधकर, पाणिपात्र में[2], भिक्षाचर्या से यथालब्ध[3] नवकोटिविशुद्ध आहार को गृहस्थ के ही घर पर[4] ग्रहण करते हैं। वह आहार छियालीस दोषों से रहित[5], शुद्ध[6], पुष्टिहीन, रसहीन[7] तथा नवधाभक्तिपूर्वक दिया गया[8] होना चाहिए। साधु को आहार लेते समय लोलुपता और स्वच्छन्दता का प्रदर्शन न करते हुए[9] आगम प्रमाणानुसार ही भूख से कम खाना चाहिए।[10]

आहार का प्रमाण- सामान्य रूप से पुरुष के आहार का प्रमाण बत्तीस ग्रास है और स्त्रियो का अट्ठाईस ग्रास है।[11] इतने से उनका पेट भर जाता है। साधु के सन्दर्भ मे कहा है कि उसे पेट के चार भागो मे से दो भाग अन्नादि से तथा एक भाग जल से भरना चाहिए। शेष एक भाग वायु सचारणार्थ खाली रखना चाहिए।[12]

---

१. अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डादि विवज्जणेण समपाय।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदि भोयण णाम।। -मू. आ. ३४
णवकोडीपरिसुद्ध दसदोसविवज्जिय मलविसुद्ध।
भुंजति पाणिपत्ते परेण दत्त परघरम्मि।। -मू.आ. ८१३

२ वही।

३ देखे, पृ. ९२, टि. ५

४ वही।

५ मूलाचार ४२१, ४८२, ४८३, ८१२

६ वसुनदि श्रावकाचार २३१, लाटी सहिता २/१९-३२

७ मूलाचार ४८१, ८१४, तथा देखे, पृ. ९२, टि. ४

८. मूलाचार ४८२

९ धावदि पिंडणिमित्त कलह काऊण भुजदे पिंडं।
अवरूपरूई संतो जिणमग्गि ण होई सो समणो।। -लिङ्गपाहुड १३

१० बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होई।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला।। -भ.आ. २११
अद्धमसणस्स सव्विंजणस्स उदरस्स तदियमुदयेण।
वाऊ संचरणट्ठं चउत्थमवसेसये भिक्खू।। -मू.आ.४९१

११ वही।

१२ वही।

आहार लेने का काल– सूर्य के उदय और अस्तकाल की तीन घड़ी (२४ मिनट की एक घड़ी) छोड़कर मध्याह्नकाल में एक, दो या तीन मुहूर्त तक साधु आहार ले सकता है।[१]

आहार के समय खड़े होने की विधि– समान और छिद्ररहित जमीन पर ऐसा खड़ा होवे जिससे दोनो पैरो मे चार अगुल का अन्तराल रहे। स्थिर और समपाद खड़ा होवे। दीवाल वगैरह का सहारा न लेवे। भोजन के समय अपने पैरो की भूमि, जूठन पड़ने की भूमि तथा जिमाने वाले के प्रदेश की भूमि— इन तीनो भूमियो की शुद्धता का ध्यान रखे।[२] जब तक खड़े होकर भोजन करने की सामर्थ्य है तभी तक भोजन करे।[३]

क्या एकाधिक साधु एकसाथ एक चौके में आहार ले सकते हैं?

आहार देते समय गृहस्थ को चाहिए कि जिस मुनि को देने के लिए हाथ मे आहार ले वह आहार उसी मुनि को देना चाहिए, अन्य मुनि को नही। यदि कोई मुनि अन्य के निमित्त दिए जाने वाले आहार को लेता है तो उसे छेद-प्रायश्चित्त करना होगा।[४] इससे दो बाते स्पष्ट होती हैं– १ एक चौके मे एक साथ एकाधिक साधु आहार ले सकते है, तथापि २ आहार लेते समय विशेष सावधानी वर्तना आवश्यक है। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जब मुनि एक साथ एक घर मे आहार लेवे तो श्रावक उन्हे ऐसा खड़ा करे जिससे दोनो आमने-सामने न हो (पीठ से पीठ हो), अन्यथा एक को अन्तराय आने पर दूसरे को भी अन्तराय हो जायेगा। यह एक अपवाद व्यवस्था है। अत ध्यान रहे कि न तो मूलव्रत भग हो और न असगतियाँ पैदा हो।

---

१ देखें, पृ० ९२, टि० न० ४ तथा आचारसार १/४९

२ देखे, पृ० ९३, टि०न० १ तथा अनगारधर्मामृत ९/९४
समे विच्छिद्रे भूभागे चतुरङ्गुलपादान्तरो निश्चल कुड्यस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत्।
—भ०आ०/वी० १२०६/१२०४/१५

३ यावत्करौ पुटीकृत्य भोक्तुमुद्भ क्षमेऽदम्यहम्।
तावन्नैवान्यथेत्यागूसयमार्थं स्थिताशनम्।। —अन०ध० ९/९३

४ पिण्ड पाणिगतोऽन्यस्मै दातु योग्यो न युज्यते।
दीयते चेन्न भोक्तव्य भुङ्क्ते चेच्छेदभाग् यति ।। —योगसार ८/६४

क्या चौके के बाहर से लाया गया आहार ग्राह्य है?

चौके के बाहर से लाया गया आहार ग्राह्य है यदि वह सरल पंक्ति (सीधी-पंक्तिबद्ध) से तीन अथवा सात घरों से लाया गया हो। यदि वह आहार बिना पक्ति के यहाँ वहाँ के घरों से लाया गया हो तो अग्राह्य है।[1]

भिक्षाचर्या को जाते समय सावधानी

मुनि भिक्षा के लिए पक्तिबद्ध घरो मे जाते हैं। पंक्तिबद्ध घरों मे कुछ उच्चवर्ग के, कुछ साधारणवर्ग के तथा कुछ मध्यमवर्ग के श्रावक हो सकते हैं। कोई घर अज्ञात (अपरिचित), तो कोई अनुज्ञात (परिचित) हो सकता है। मुनि इन सब मे बिना भेद किए हुए आहारार्थ निकले।[2] इससे आहार मे गृद्धता नहीं आती है।

आहार लेते समय सावधानी

यदि कोई स्त्री अपने बालक को स्तनपान करा रही हो या गर्भिणी हो तो ऐसी स्त्रियों का दिया हुआ आहार नही लेना चाहिए। रोगी, अतिवृद्ध, बालक, उन्मत्त, अधा, गूगा, अशक्त, भययुक्त, शकायुक्त, जो अतिशाय नजदीक खड़ा हो, जो दूर खड़ा हो ऐसे पुरुषो से आहार नही लेना चाहिए। जिसने लज्जा से अपना मुख फेर लिया हो, जिसने जूता-चप्पल पर पैर रखा हो, जो उची जगह पर खड़ा हो ऐसे पुरुषो के द्वारा दिया गया आहार भी नही लेना चाहिए। टूटी हुई कलछुल से दिया हुआ भी आहार नही लेना चाहिए।[3]

दातार के सात गुण

जो दाता निदान (फल की इच्छा) से रहित है तथा श्रद्धा, भक्ति, विज्ञान, सन्तोष, शक्ति, अलुब्धता और क्षमा— इन सात गुणों से युक्त है वही दातार प्रशसनीय है।[4] ये गुण कही-कही भिन्न रूपो में भी मिलते हैं।[5]

---

१ उज्जू तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगद दु आचिण्ण।
परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीद आणाचिण्ण ।। —मू॰आ॰ ४३९

२ अण्णादमणुण्णाद भिक्ख णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु।
घरपतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति।। —मू॰आ॰ ८१५

३ स्तन प्रयच्छन्त्या गर्भिण्या वा दीयमान न गृह्णीयात्। रोगिणा अतिवृद्धेन बालेनोन्मत्तेन पिशाचेन मुग्धेनान्धेन मूकेन दुर्बलेन भीतेन शङ्कितेन, अत्यासन्नेन अदूरेण लज्जाव्यावृतमुख्या आवृतमुख्या उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा दीयमान न गृह्णीयात्। खण्डेन भिन्नेन वा कडकककच्छुकेन दीयमान वा। —भ॰आ॰/वि॰ १२०६/१२०४/१७

४ श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं पुष्टि: शक्तिरलुब्धता।
क्षमा च यत्र सप्तैते गुणा दाता प्रशस्यते।। —गुणनन्दी श्रावकाचार १५१

५ रा॰वा॰ ७/३९, महा पु॰ २०/८२-८५, स॰सि॰ ७/३९, पु॰सि॰उ॰ १६९

आहार के अन्तराय

आहार-सम्बन्धी कुछ अन्तराय निम्न हैं, जिनके उपस्थित होने पर साधु को आहार त्याग देना चाहिए–

१ कौआ आदि पक्षी बीट कर दे, २. विष्ठा आदि मल पैर में लग जाए, ३. वमन हो जाए, ४. कोई रोक दे, ५. रक्तस्राव दिखलाई दे, ६ अश्रुपात हो, ७. खुजली आदि होने पर जघा के निचले भाग का स्पर्श हो जाए, ८ घुटनो के ऊपर के अवयवो का स्पर्श हो जाए, ९. दरवाजा इतना छोटा हो कि नाभि से नीचे झुकना पड़े, १० त्यागी हुई वस्तु का भक्षण हो जाए, ११ कोई किसी जीव का वध कर देवे, १२. कौआ आदि हाथ से आहार छीन ले, १३ पाणिपात्र से ग्रास गिर जाए, १४ कोई जन्तु पाणिपात्र मे स्वयं गिरकर मर जाए, १५ मांस, मद्य आदि दिख जाए, १६. उपसर्ग आ जाए, १७ दोनो पैरो के मध्य से कोई पञ्चेन्द्रिय जीव निकल जाए, १८ दाता के हाथ से कोई वर्तन गिर जाए, १९ मल विसर्जित हो जाए, २० मूत्र विसर्जित हो जाए, २१ चाण्डालादि के घर मे प्रवेश हो जाए, २२ मूर्च्छा आ जाए, २३ भोजन करते-करते बैठ जाए, २४ कुत्ता, बिल्ली आदि काट ले, २५ सिद्ध-भक्ति कर लेने के बाद हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाए, २६ आहार करते समय थूक-खकार आदि निकल आए, २७ पेट से कीड़े निकल पड़े, २८ दाता के द्वारा दिए बिना ही कोई वस्तु ले लेवे, २९ तलवार का प्रहार होवे, ३०. ग्रामादि मे आग लग जाए, ३१ भूमि पर पड़ी हुई वस्तु को पैर से उठाकर ले लेवे, ३२ गृहस्थ की किसी वस्तु को मुनि अपने हाथ मे सम्हाले रखे।[१] इसी प्रकार की अन्य परिस्थितियो के आने पर साधु को आहार का त्याग कर देना चाहिए।

छियालीस दोषों से रहित आहार की ग्राह्यता

साधु को ऐसा आहार लेना चाहिए जो उद्गमादि छियालीस दोषो से रहित हो। इन छियालीस दोषो को मुख्यत आठ दोषो मे समाहित किया गया है।[२] जैसे–

१ मूलाचार ४९५-५००

२ उग्गम उप्पादन एसण च सजोजण पमाण च।
इगाल धूमकारण अट्ठविहा पिंडसुद्धी दु।। –मू॰आ॰ ४२१
तथा देखिए, मूलाचार ४२२-४७७, भ॰ आ॰, वि॰ ४२१/६१३/९

१. **उद्गम दोष**— यह गृहस्थ-दाता सम्बन्धी दोष है। औद्देशिक आदि के भेद से यह सोलह प्रकार का है।

२. **उत्पादन दोष**—यह मुनि के अभिप्राय आदि से सम्बन्धित दोष हैं। धात्री आदि के भेद से यह सोलह प्रकार का है।

३ **एषणा (अशन) दोष**— यह परोसने वाले गृहस्थ तथा आहार लेने वाले साधु दोनो से सम्बन्धित है। इसमे शुद्धा-शुद्धि का विचार न करना ही दोष का कारण है। यह दस प्रकार का है।

४ **संयोजना दोष**— शीत-उष्ण अथवा स्निग्ध-रुक्ष पदार्थों को मिलाना।

५. **प्रमाण दोष**— प्रमाण से अधिक भोजन करना।

६. **इंगाल या अंगार दोष**— स्वादिष्ट भोजन मे लालच होना।

७ **धूमदोष**— नीरस-कटु भोजन मे अरुचि होना।

८ **कारणदोष**— आहार-ग्रहण करने के कारणो के विरुद्ध कारणो के होने पर भी आहार लेना।

इस तरह उद्गम के सोलह, उत्पादन के सोलह, एषणा के दस तथा सयोजनादि चार दोषो को मिलाने से आहारसम्बन्धी छियालीस दोष होते हैं। यहाँ कारण दोष को अलग से नही जोड़ा गया है। क्योंकि आहार-ग्रहण के कारण होने पर ही साधु आहार लेता है और आहार लेते समय जिन छियालीस दोषो को बचाना है वे ही यहाँ लिए गए हैं।

उद्गम के सोलह दोष

१ **औद्देशिक**[1] (उद्देश्य करके बनाया गया भोजन), २. **अध्यधि** (पकते भोजन मे थोड़ा बढ़ा देना अथवा किसी बहाने साधु को रोक रखना, जिससे भोजन तैयार हो जाए), ३. **पूतिकर्म** (अप्रासुक द्रव्य से मिश्रित प्रासुक द्रव्य), ४ **मिश्र** (मिथ्या साधुओ के साथ सयत साधुओं को देना), ५. **स्थापित दोष**

१. इस दोष के सम्बन्ध में बहुत भ्रम है। मेरी इस दोष के सम्बन्ध मे प जगन्मोहन लाल जी से वार्ता हुई थी, जिसका सार इस प्रकार है— प्रकृत में उद्दिष्ट के चार अर्थ संभव हैं— १ जैन साधु-विशेष के लिए बनाया गया भोजन, २ जैनेतर साधु के लिए बनाया गया भोजन, ३. दीन-दुःखियों के लिए बनाया गया भोजन और ४ जिस किसी के लिए बनाया

(पके भोजन को निकालकर दूसरे बर्तन मे रख देना), ६ **बलिदोष** (यक्ष आदि के निमित्त बनाये गए भोजन मे से बचे हुए अन्न को देना), ७. **प्राभृत या प्रावर्तित** (काल की हानि या वृद्धि करके आहार देना), ८ **प्रादुष्कार** (आहारार्थ आने पर वर्तन वगैरह साफ करना, दीपक जलाना, लीपना-पोतना), ९. **क्रीत** (खरीदकर आहार देना), १० **प्रामृष्य** या **ऋण** (उधार लेकर आहार देना), ११ **परिवर्त** (भोजन दूसरे से बदलकर देना), १२ **अभिघट** (पंक्तिबद्ध सात घर के अतिरिक्त घर से लाकर देना), १३ **उद्भिन्न** (बन्द पात्रो का ढक्कन खोलकर देना), १४ **मालारोहण** (सीढी आदि से घर के ऊपरी भाग पर चढ़कर वहाँ से अटारी आदि पर रखी वस्तु लाकर देना), १५. **आछेद्य** (चोर आदि को साधु का भय दिखाकर उनसे छीनी गई वस्तु देना), और १६ **अनीशार्थ** (अनिच्छुक दातारो से दिया गया आहार। इसमे सभी लोग दान के इच्छुक नही होते)। यद्यपि ये दोष दाता से सम्बन्धित है, परन्तु साधु को इस विषय मे सावधानी वर्तनी चाहिए। यदि इन दोषो को दाता के मत्थे डालकर उपेक्षा करेगा तो साधु को दोष लगेगा। क्रीत, मालारोहण आदि दोष इसलिए गिनाए गए हैं कि गृहस्थ के ऊपर भार न पड़े तथा वह अनावश्यक कष्ट न उठावे।

उत्पादन के सोलह दोष

१ **धात्री** (धात्री कर्म=स्नानादि सेवा-कर्म का उपदेश देकर आहार प्राप्त करना), २ **दूत** (सन्देश भेजने रूप दौत्य-कर्म से आहार प्राप्त करना), ३ **निमित्त** (शुभाशुभ निमित्तो को बतलाकर आहार लेना), ४ **आजीव** (जाति,

---

गया भोजन= दानशालाओ का भोजन। दानशालाओ का भोजन इसलिए ग्राह्य नही है क्योंकि वहाँ न तो शुद्धता रहती है और न आदरभाव । प्रथम तीन उद्दिष्ट प्रकारो का भोजन ग्रहण दूसरो के अधिकार को छीनना है। अत उसे भी नही लेना चाहिए। अब यदि उद्दिष्टत्याग का अर्थ 'आरम्भत्यागी साधु को उद्देश्य करके बनाया गया भोजन त्याज्य है' ऐसा अर्थ करेगे तो या तो साधु को वर्तमान काल मे भोजन ही नहीं मिलेगा या फिर अशुद्ध मिलेगा। आज दिगम्बर जैन साधु के अनुकूल भोजन गृहस्थ के घर प्राय नहीं बनता है। निमन्त्रण साधु स्वीकार नही कर सकता है। गृहस्थ अतिथि-सविभाग व्रत पालन करता है। वह योग्य पात्र को दान देने हेतु शुद्ध भोजन बनाता है, अतिथि मुनि के न आने पर गृहस्थ स्वयं उस भोजन को खाता है। यदि उद्दिष्टत्याग का अर्थ सर्वथा आरम्भत्याग अर्थ करेगे तो साधु को दवा कैसे दी जायेगी? अन्यथा श्रावक को भी दवा खानी पड़ेगी। अत उद्दिष्टत्याग का अर्थ है जो किसी विशेष जीव के उद्देश्य से न बना हो तथा नवकोटिविशुद्ध हो।

तप, शिल्प आदि क्रियाओं को बताकर तथा अपने को श्रेष्ठ बताकर आहार प्राप्त करना), ५. वनीपक (दाता के अनुकूल वचनों को कहकर आहार प्राप्त करना), ६. चिकित्सा (चिकित्साविज्ञान बताकर आहार प्राप्त करना), ७-१० क्रोध-मान-माया-लोभ ('तुम क्रोधी हो', 'तुम घमण्डी हो' आदि कहकर आहार देने हेतु तैयार करना, ११-१२ पूर्व-पश्चात् संस्तुति (दान के पूर्व अथवा बाद में दाता की प्रशंसादि करना, जिससे अच्छा आहार मिले), १३-१४ विद्या-मंत्र (विद्याओ और मन्त्रो के प्रयोग बतलाना, जिससे आहार अच्छा मिले), १५. चूर्ण (अजन-चूर्ण आदि बतलाकर आहार प्राप्त करना) और १६. मूलकर्म (वियोगी स्त्री-पुरुषो को मिलाना, अवशो को वशीभूत करना आदि क्रियाओ को करके आहार प्राप्त करना)। ये दोष मुनि से सम्बन्धित हैं। अतः मुनि को ये कार्य आहार के निमित्त नही करना चाहिए। यदि मुनि इन दोषो की उपेक्षा करता है तो वह एक प्रकार से धात्री आदि कार्यों को करके आजीविका करने वाला गृहस्थ-सा बन जाता है।

एषणा के दस दोष

१ शंकित (आहार लेने योग्य है या नही, ऐसी शका होना), २. म्रक्षित (चिकनाई आदि से युक्त हाथ आदि से दिया गया आहार। अत. हाथ ठीक से धोकर पोछ लेना चाहिए), ३ निक्षिप्त (सचित्त एव अप्रासुक वस्तुओ पर रखा आहार), ४ पिहित (अप्रासुक वस्तु से ढके हुए को खोलकर दिया गया आहार), ५ संव्यवहरण (लेन-देन शीघ्रता से करना), ६. दायक (बालक का शृङ्गार आदि कर रही स्त्री, मद्यपायी, रोगी, मुरदे को जलाकर आया सूतक वाला व्यक्ति, नपुसक, पिशाचग्रस्त,, नग्न, मलमूत्र करके आया हुआ, मूर्च्छाग्रस्त, वमन करके आया व्यक्ति, रुधिरसहित, दासी, वेश्या, श्रमणी, तेल मालिस करने वाली, अतिबाला, अतिवृद्धा, जूठे मुंह, पाँच माह या उससे अधिक के गर्भ से युक्त स्त्री, अन्धी, सहारे से बैठी हुई, ऊची जगह पर बैठी हुई, नीची जगह पर बैठी हुई, अग्निकार्य मे सलग्न, लीपने-पोतने आदि मे सलग्न, दूध-पीते बच्चे को छोड़कर आई स्त्री; इत्यादि स्त्री-पुरुषो से आहार लेना), ७. उन्मिश्र (पृथिवी, जल, हरित, बीज एवं त्रस जीवो से मिश्रित अथवा गर्म-उष्ण पदार्थों से मिश्रित आहार), ८. अपरिणत (पूर्ण पका भोजन हो, अधपका नही। जहाँ पानी की कमी है वहाँ तिल का धोवन, तण्डुलोदक आदि), ९. लिप्त (गेरु, हरिताल

आदि से लिप्त या गीले हाथ या गीले बर्तन से आहार देने पर आहार लेना) और १० **छोटित या त्यक्त** (प्रतिकूल पदार्थों को नीचे गिराते हुए या जूठन गिराते हुए भोजन लेना अथवा प्रमादवश दातार गिरावे तब भी आहार लेना)। ये एषणा सम्बन्धी दोष हैं जो आहार लेते समय सभव हैं। इनका सम्बन्ध मुनि और श्रावक दोनो से है। अत: दोनो की सावधानी अपेक्षित है।

संयोजनादि चार दोष

संयोजना, प्रमाण, इगाल और धूमदोष। इनका वर्णन पृष्ठ सत्तानबे पर किया जा चुका है।

अन्य दोष

इन दोषो के अतिरिक्त कुछ अन्य दोषो का भी उल्लेख मिलता है। जैसे—**चौदह मलदोष**[1]—नख, रोम, जतु, हड्डी, कण (गेहूं, चावल आदि का कण), कुण्ड (धान्यादि के सूक्ष्म अग्र), पीप, चमड़ा, रुधिर, मास, बीज, सचित्त फल, कन्द (सूरण, मूली, अदरख आदि) और मूल (पिप्पली आदि जड़)।

अधःकर्म दोष

गृहस्थ के आश्रित जो चक्की आदि आरम्भ रूप कर्म हैं उन्हे अध कर्म कहते हैं। साधु उनका प्रारम्भ से ही त्यागी होता है। यदि वह ईन कर्मों को करता है, तो उसके साधुपना नही रहेगा।

यहाँ शास्त्रोक्त दोष गिनाए हैं। यदि मूलगुणो या उत्तरगुणो मे हानि हो तो इसी प्रकार देशकालानुसार अन्य दोषो की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

वसतिका (निवासस्थान)

ठहरने का स्थान वसतिका कहलाता है। जो स्थान ध्यान, अध्ययन आदि के लिए उपयुक्त हो तथा सक्लेश आदि परिणामो को उत्पन्न करने वाला न हो, वह स्थान साधु के ठहरने के लिए उपयुक्त है।

वसतिका कैसी हो?

आहार-प्रकरण मे गिनाए गए उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषो से रहित वसतिका होनी चाहिए। उद्गमादि आहार-सम्बन्धी दोषो का वसतिका के साथ

१. णहरोमजतुअट्ठी-कण कुंडयपूयचम्मरुहिरमंसाणि।
बीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति।। —मूला. ४८४

तदनुकूल अर्थ कर लेना चाहिए। जिसमे जीव-जन्तुओं का निवास न हो, बाहर से आकर जिसमें कोई प्राणी निवास न करता हो, संस्काररहित (सजावटरहित) हो, जिसमे प्रवेश और निकास सुखपूर्वक हो सकता हो, जहाँ पर्याप्त प्रकाश हो, जिसके किवाड़ और दीवारें मजबूत हो, जो गाँव या नगर के बाहर या प्रान्तभाग मे हो, जहाँ बालक, वृद्ध तथा चार प्रकार के गण (मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका) आ जा सकते हो, जो दरवाजा-सहित या दरवाजा-रहित हो तथा जो या तो समभूमि या विषमभूमि-युक्त हो, ऐसी एकान्त वसतिका मुनि को उपयुक्त है।[१]

शून्यगृहादि उपयुक्त वसतिकायें हैं

शून्यघर (छोड़ा गया या वीरान घर), पर्वतगुफा, पर्वत-शिखर, वृक्षमूल, अकृत्रिम घर, श्मशान भूमि, भयानक वन, उद्यानघर, नदी का किनारा आदि ये सब उपयुक्त वसतिकाये हैं।[२] इनके अतिरिक्त अनुद्दिष्ट देव-मन्दिर, धर्मशालाये, शिक्षाघर (पब्भार) आदि भी उपयुक्त वसतिकाये हैं।[३] आत्मानुशासन मे साधुओ द्वारा वन मे निवास को छोड़कर ग्राम अथवा नगर के समीप रहने पर खेद प्रकट करते हुए कहा है– 'जिस प्रकार मृगादि रात्रि के समय सिंहादि के भय से गाँव के निकट आ जाते है उसी प्रकार इस कलिकाल मे मुनिजन वन को छोड़कर गावो के समीप रहने लगे है, यह कष्टकर है। अब यदि ग्रामादि मे रहने से कालान्तर मे स्त्रियो के कटाक्षरूपी लुटेरो के द्वारा साधु के द्वारा ग्रहण किया गया तप (साधुचर्या) हरण कर लिया जाए तो

---

१ उग्गम-उप्पादण-एसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु।
वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए।।
सुहणिक्खवण पवेसुणघणाओ अवियड अणध याराओ।। ६३७
घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालवुड्ढगणजोग्गे।। ६३८
वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अंतो वा। –भ.आ. २२९

२ गिरिकंदर मसाण सुण्णागार च रुक्खमूल वा।
ठाण विरागबहुल धीरो भिक्खू णिसेवेऊ।। –मू.आ. ९५२
सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूल .. विचित्ताई। –भ.आ. २३१
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे। –भ.आ. ६३८
तथा देखिए, बोध पा. ४२, स.सि. ९/१९, ध. १३/५.४.२६/५८/८,

३ आगंतुगार देवकुले ..। –भ.आ. २३१, ६३९

साधुचर्या की अपेक्षा गृहस्थ-जीवन ही श्रेष्ठ है।[१] यद्यपि सच्चे वीतरागियों के लिए स्थान का कोई महत्त्व नही है[२] तथापि सामान्य वीतरागियो के लिए वैराग्यवर्धक उपयुक्त वसतिका का चयन आवश्यक है। आज के परिवेश में यदि वन में निवास सम्भव न हो तो ग्रामादि के बाह्य-स्थानो का चयन जरूर करना चाहिए, अन्यथा गृहस्थो की सगति से विविध प्रकार के आरम्भ होने लगेगे तथा आत्मध्यान मे बाधा उपस्थित होने लगेगी।

वसतिका कैसी न हो?

जो वसतिका ध्यान एव अध्ययन मे बाधाकारक हो, मोहोत्पादक हो, कुशील-ससक्त (शराबी, जुआड़ी, चोर, वेश्या, नृत्यशाला आदि से युक्त) हो, स्त्रियो एव अन्य जन्तुओ आदि की बाधा हो, देवी-देवताओ के मन्दिर हो, राजमार्ग, बगीचा, जलाशय आदि सार्वजनिक स्थानो के समीप हो, तेली, कुम्हार, धोबी, नट आदि के घरो के पास हो।[३] ये सभी स्थान तथा इसी प्रकार के अन्य स्थान ध्यान-साधना के प्रतिकूल हैं। अतएव साधु की वसतिका इनसे युक्त नही होनी चाहिए। इसके अलावा साधु की वसतिका पूर्वोक्त उद्गमादि छियालीस दोषो से रहित होनी चाहिए।[४] वसतिका वस्तुत ध्यान-साधना के अनुकूल एकान्त स्थान मे होनी चाहिए।

---

१ इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्या यथा मृगा।
वनाद्विशत्युपग्राम कलौ कष्ट तपस्विन ।। १९७
वर गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मन।
श्व स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसपद। —आत्मानु० १९८

२ सव्वासु वट्टमाणा ज देसकालचेट्ठासु।
वरकेवलादि लाह पत्ता हु सो खवियपावा।।
तो देसकालचेट्ठाणियमोज्झाणस्स णत्थि समयम्मि।
जोगाण समाहाण जह होइ तहा पयइयव्व।। —ध० १३/५ ४ २६/,१५ २०/६६
देशादिनियमोऽप्येव प्रायोवृत्तिव्यपाश्रय।
कृतात्मना तु सर्वोऽपि देशादिर्ध्यानसिद्धये।। —महापुराण २१/७६

३ भ०आ० २२८, २२९, ४४२, ६३३-६३५, ८३४, मू० आ० ३५७, ९५१, रा० वा० ९/६/१६/५९७/३४, स०सि० १/१९

४ वसतिका के दोष आहार के दोषो से मिलते-जुलते हैं। उद्गम के २० दोष (४ दोष बढ़ गए हैं), उत्पादन के १६ दोष तथा एषणा के १० दोष।
तथा देखे, भ०आ०, वि० २३०/४४३-४४४

वसतिका मे प्रवेश करते समय 'निसीहि' और बाहर जाते समय 'आसिहि' शब्द बोलना चाहिए। ये दोनों शब्द प्राकृत भाषा के हैं, जिनका उद्देश्य बाहर निकलते समय और अन्दर प्रवेश करते समय के संकेत हैं। साधु की साधना में जितना आहार-शुद्धि का महत्त्व है, उतना ही वसतिका का महत्त्व है। ग्रामादि के मध्य-स्थान में रहने से श्रावको के सरागात्मक कार्यों में प्रवेश हो जाता है। प्राय श्रावक अपने छोटे-छोटे पारिवारिक दुःखड़ो को साधु के समक्ष प्रस्तुत करने लगता है और साधु उनमे रागयुक्त होकर अथवा यशःकामना के वशीभूत होकर उनको मन्त्र-तन्त्र आदि उपायो को बतलाने लगता है। गृहस्थो के झगड़ों को सुनता है। प्रतिष्ठाचार्य के कार्य पूजा-पाठ आदि विविध आरम्भप्रधान-क्रियाओ को कराने लगता है। इसीलिए आचार्यों ने सदा साधु को विहार करते रहने का विधान किया है, जिससे वह गृहस्थो के सासारिक प्रपञ्चों मे न उलझे । जहाँ बहुत लोगो का आवागमन होता है, वहाँ ध्यान-साधना नही हो पाती। अतः योग्य वसतिका का चयन आवश्यक है।

विहार

एक स्थान पर रहने से उस स्थान से राग बढ़ता है, अतएव साधु को नित्य विहार करते रहने का विधान है। वर्षायोग (चातुर्मास) को छोड़कर साधु अधिक काल तक एक स्थान पर न रहे। इस कलिकाल मे एकाकी-विहार का भी निषेध किया गया है। अत साधु को सघ मे रहकर सघ के साथ ही विहार करना चाहिए।

एक स्थान पर ठहरने की सीमा तथा वर्षावास

मूलाचार मे सामान्यरूप से साधु को गाँव मे एक रात तथा नगर मे पाँच दिन तक ठहरने का विधान है।[1] बोध-पाहुड टीका मे इस प्रकार कहा है कि—नगर मे पाँच रात्रि और गाँव मे विशेष नही ठहरना चाहिए।[2] वसन्तादि छहो ऋतुओं मे से प्रत्येक ऋतु मे एक मासपर्यन्त ही एक स्थान मे साधु रहे, अधिक नही।[3]

---

१ गामेयरादिवासी णयरे पचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगतवासी य।। —मू.आ. ७८७

२ वसिते वा ग्रामनगरादौ वा स्थातव्यं, नगरे पञ्चरात्रे स्थातव्य, ग्रामे विशेषेण न स्थातव्यम्।
—बोध पा.,टी. ४२/१०७/१

३ अनगारधर्मामृत ९/६८-६९

परन्तु वर्षाकाल मे चार माह या आषाढ शुक्ला दसमी से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक एक स्थान मे रहे। दुर्भिक्षादि के आने पर तथा अध्ययन आदि प्रयोजनवश इस सीमा मे क्रमशः हानि-वृद्धि की अनुमति दी जा सकती है।

वर्षा ऋतु मे चारो ओर हरियाली होने, मार्गों के अवरुद्ध होने तथा पृथिवी पर त्रस-स्थावर जीवों की सख्या बढ़ जाने से अहिंसा, संयम आदि का पालन कठिन हो जाता है। अतएव साधु को इस काल मे एक स्थान पर रहने का विधान किया गया है। वर्षायोग को दसवाँ पाद्य नामक स्थितिकल्प कहा गया है।[1] अनगारधर्मामृत मे वर्षावास के सम्बन्ध मे कहा है कि — आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम प्रहर मे चैत्यभक्ति आदि करके वर्षायोग ग्रहण करना चाहिए तथा कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के पिछले पहर मे चैत्य-भक्ति आदि करके वर्षायोग छोड़ना चाहिए।[2] वर्षावास के समय मे जो थोड़ा अन्तर है वह उतना महत्त्व का नही है, जितना महत्त्व वर्षा होने की परिस्थितियो से है, क्योकि अलग-अलग स्थानो पर अलग-अलग समयो मे वर्षा प्रारम्भ होती है। अतएव प्रयोजनवश इसमे हानि-वृद्धि का विधान है। मूल उद्देश्य है अहिंसा और सयम का प्रतिपालन। मूलाचार आदि प्राचीन मूल ग्रन्थो मे वर्षायोग का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है, परन्तु उनकी टीकाओ मे है।[3]

रात्रिविहार-निषेध

सूर्योदय के पूर्व तथा सूर्यास्त के बाद रात्रि मे सूक्ष्म और स्थूल जीवो का सचार ज्यादा रहता है तथा अन्धकार होने से वे ठीक से दिखलाई नही पड़ते, अतएव सयम-रक्षार्थ रात्रिविहार निषिद्ध है। मल-मूत्रादि विसर्जनार्थ रात्रि मे गमन कर सकता है, परन्तु रात्रि-पूर्व ऐसे स्थान का अवलोकन कर लेना चाहिए।[4] आजकल प्रकाश की व्यवस्था हो जाने से दिखलाई तो कुछ ज्यादा पड़ता है परन्तु उतना नही जितना सूर्य के प्रकाश मे दिखता है तथा रात्रिजन्य स्वाभाविक जीवोत्पत्ति तो बढ ही जाती है। इसके अलावा सर्वत्र प्रकाश की व्यवस्था नही रहती और साधु न तो स्वय प्रकाश की व्यवस्था कर सकता है और न करा सकता है।

१ भ.आ., वि. ४२१/६१६/१०

२ अनगारधर्मामृत ९/६८-६९

३. वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्याग। — भ.आ., वि.टी. ४२१, तथा देखे, मूलाचारवृत्ति १०/१८

४ मूलाचार ३२३

नदी आदि जलस्थानों में प्रवेश (अपवाद मार्ग)

सामान्यतः जल से भीगे स्थान में नही चलना चाहिए। यदि जाना आवश्यक हो तो सूखे स्थान से ही जाना चाहिए, भले ही वह रास्ता लम्बा क्यो न हो। अपवाद-स्थिति होने पर कभी-कभी विहार करते समय जलस्थानो को पार करना पड़ता है। यदि जल घुटनो से अधिक न हो तो पैदल जाया जा सकता है। जल मे प्रवेश करने के पूर्व साधु को पैर आदि अवयवो से सचित्त और अचित्त धूलि को दूर करना चाहिए और जल से बाहर आने पर पैरो के सूखने तक जल के समीप किनारे पर ही खड़ा रहना चाहिए। जलस्थान पार करते समय दोनो तटो पर सिद्ध-वन्दना करना चाहिए। दूसरे तट की प्राप्ति होने तक शरीर, आहार आदि का प्रत्याख्यान (परित्याग) करना चाहिए। दूसरे तट पर पहुँचकर दोष को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए।

यह जलप्रवेश अपवाद मार्ग है। आज नदियो पर पुलो का निर्माण हो गया है, अतएव ऐसे जलप्रवेश के मौके प्राय नही आते। अच्छा तो यही होगा कि यदि जाना अति आवश्यक न हो तो नही जाना चाहिए या दूसरा रास्ता अपनाना चाहिए। अपवाद मार्गों को अपनाना बिना आचार्य की आज्ञा के ठीक नही है।[१]

गमनपूर्व सावधानी

साधु जब शीतल स्थान से उष्ण स्थान मे अथवा उष्ण स्थान से शीतल स्थान मे, श्वेत भूमि से रक्त भूमि मे अथवा रक्त भूमि से श्वेत भूमि मे प्रवेश करे

१ आचार्य शान्तिसागर के साथ घटी दो घटनाए अपवादमार्ग के सदर्भ मे विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क) एक बार आचार्य धौलपुर स्टेट जा रहे थे। उन्हे नग्न देखकर लट्ठमार आ गए और लाठियों से पीटने लगे। जब राजा को पता चला तो उसने उन लट्ठमारो को पकड़वाया। पश्चात् आचार्य से पूछा, इन्हे क्या सजा देवे। उत्तर में आचार्य ने कहा यदि आप मेरी बात माने तो इन्हे माफ कर देवे। फलत उन्हे माफ कर दिया गया और वे लट्ठमार आचार्य के भक्त हो गए।

(ख) एक बार दिल्ली मे कलक्टर का आदेश था कि जैन नग्न साधु सड़क पर न निकले। फलतः श्रावक साधु को चारों ओर से घेरकर ले जाते थे। एक बार आचार्यश्री अकेले पहाड़ी धीरज चले गए। जब वे वापस लौट रहे थे तो चौराहे पर सिपाही ने उन्हे रोंककर शासनादेश सुनाया। सड़क पर नग्नावस्था मे जब उन्हे न आगे और न पीछे जाने दिया, तो आचार्य वहीं बीच सड़क पर बैठ गए। स्थिति की नाजुकता को देख कलक्टर ने उन्हे जाने की अनुमति दे दी। जामा मस्जिद के पास उनके चित्र भी लिए गए।

इन दोनों घटनाओ से स्पष्ट है कि कठिन परिस्थितियों में भी अपवाद मार्ग नही अपनाना चाहिए। दृढ़ता होने पर सब ठीक हो जाता है।

तो प्रवेश से पूर्व उसे पिच्छी से अपने शरीर का प्रमार्जन कर लेना चाहिए, जिससे विरुद्धयोनि-सक्रमण से क्षुद्र जीवो को बाधा न पहुँचे।[१]

अनियत विहार

वीतरागी साधु को ममत्वरहित होकर सदा अनियत-विहारी होना चाहिए। अनियत विहार के कई लाभ हैं। जैसे– १ सम्यग्दर्शन की शुद्धि, २ स्थितिकरण, ३ रत्नत्रय की भावना एव अभ्यास, ४. शास्त्रकौशल, ५ समाधिमरण के योग्य क्षेत्र की मार्गणा, ६ तीर्थङ्करो की जन्मभूमि आदि के दर्शन, ७ परीषह-सहन करने की शक्ति, ८. देश-देशान्तर की भाषाओ का ज्ञान, ९ अनेक मुनियो आदि का सयोग (जिससे आचारादि की विशेष जानकारी होती है), १० अनेक आचार्यों के उपदेशो का लाभ आदि।[२] अर्हन्त भी अनियतविहारी हैं, परन्तु उनका विहार इच्छारहित होता है।[३]

विहारयोग्य क्षेत्र एवं मार्ग

साधु को विहार के लिए प्रासुक और सुलभवृत्ति योग्य क्षेत्रो का ध्यान रखना चाहिए। जैसे— जहाँ गमन करने से जीवो को बाधा न हो, जो त्रस और वनस्पति जीवो से रहित हो, जहाँ बहुत पानी या कीचड़ न हो, जहाँ लोगो का निरन्तर गमन होता हो, जहाँ सूर्य का पर्याप्त प्रकाश हो, हल वगैरह से जोता गया हो, आदि।[४]

एकाकी विहार का निषेध

कलिकाल मे गण को छोड़कर एकाकी विहार करने पर कई दोषो की सम्भावनाये हैं। जैसे— दीक्षागुरु की निन्दा, श्रुत का विनाश, जिनशासन मे कलक, मूर्खता, विह्वलता, कुशीलपना, पार्श्वस्थता आदि। जो साधु सघ को

---

१ भ.आ., वि. १५०/३४४/९

२ वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे।
सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारी।। –भ.आ. १५३/३५०
तथा देखिए, भ.आ. १४२-१५०/३२४-३४४

३ देखे, देव-स्वरूप।

४. संजदजणस्स य जहिं फासुविहारो य सुलभवुत्तीय। –भ.आ. १५२/३४९
तथा देखिए, मू.आ. ३०४-३०६

छोड़कर एकाकी विहार करता है, वह पापश्रमण है। अकुशरहित मतवाले हाथी की तरह वह विवेकहीन 'ढोढाचार्य' कहलाता है क्योंकि वह शिष्यपना छोड़कर जल्दी ही आचार्यपना प्राप्त करना चाहता है।[1] ऐसा मुनि यदि उत्कृष्ट तपस्वी तथा सिंहवृत्ति वाला भी हो तो भी वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है।[2] उत्कृष्ट वीतरागी एकलविहारी साधु की बात अलग है। परन्तु इस कलिकाल मे नही।[3] अतः सघ के साथ ही विहार करना चाहिए।

विहार का मुख्य उद्देश्य है किसी एक स्थान मे राग उत्पन्न न होने देना। विहार करते समय अहिंसा-पालनार्थ ईर्या-समिति का ध्यान रखना जरूरी है। आजकल के युग मे एकाकी विहार को अनुपयुक्त कहा गया है, क्योंकि इसमे कई दोष हैं तथा सघ मे विहार करने के कई लाभ हैं।

गुरुवन्दना

जैनधर्म मे गुणो की पूजा होती है। अत॰ जो गुणो में बड़ा होता है वही वन्दनीय है। श्रावको से श्रमण गुणो मे ज्येष्ठ हैं। अतएव श्रमण होने के पूर्व जो माता-पिता पहले वन्दनीय थे अब वह श्रमण उनके द्वारा वन्दनीय हो जाता है। क्षुल्लक से ऐलक, ऐलक से आर्यिका और आर्यिका से साधु श्रेष्ठ है। साधुओ मे परस्पर ज्येष्ठता दीक्षाकाल की अधिकता से मानी जाती है। अतः जो दीक्षाकाल की अपेक्षा ज्येष्ठ है वही वन्दनीय है। गुणहीन कथमपि वन्दनीय नही है।[4]

वन्दना का समय

दिन मे तीन बार गुरु-वन्दना करनी चाहिए— प्रातः, मध्याह्न और सायकाल। अर्थात् प्रातःकालीन क्रियाओ को करने के बाद, माध्याह्निक देववन्दना

---

१ मूलाचार १५०-१५५, ९६१-९६२

२ उक्किट्ठसीहचरिय बहुपरियम्मो य गरुय भारो य।
जो विरहि सच्छदं पाव गच्छदि होदि मिच्छत्त।। —सूत्रपाहुड ९

३ आचारसार २७, मूलाचार (वृत्तिसहित) ४/१४९

४ णो वंदिज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंद अण्णतित्थ वा।
देशविरद देव वा विरदो पासत्थपणगं वा।। —मू.आ. ५९४
तथा देखें, प्रवचनसार ३/६८, अनगारधर्मामृत ८/५२
आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूयणे य सज्झाए।
अवराहे य गुरूण वदणमेदेसु ठाणेसु।। —मू.आ. ६०१

के बाद तथा सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण के बाद गुरु-वन्दना करनी चाहिए। नैमित्तिक कारणों के उपस्थित होने पर नैमित्तिक-क्रिया के बाद भी वन्दना करना चाहिए।[१] आलोचना, सामायिक, प्रश्न-प्रच्छा, पूजन, स्वाध्याय और अपराध— इन प्रसङ्गों के उपस्थित होने पर गुणज्येष्ठ की वन्दना करनी चाहिए।[२] ऐसी वन्दना विनय तप है। स्वार्थवश या भयवश मिथ्यादृष्टि आदि के प्रति की गई वन्दना विनय तप नही है, अपितु अज्ञान है।

वन्दना के अयोग्य काल

जब वन्दनीय आचार्य आदि एकाग्रचित्त हो, वन्दनकर्ता की ओर पीठ किए हुए हो, प्रमत्तभाव मे हो, आहार कर रहे हो, नीहार मे हो, मल-मूत्रादि का विसर्जन कर रहे हो, ऐसे अवसरो पर वन्दना नही करनी चाहिए।[३]

वन्दना की विनयमूलकता

गुरु-वन्दना के मूल मे विनय है। इस विनय के पाँच भेद हैं[४]— १ लोकानुवृत्तिहेतुक विनय, २ कामहेतुक विनय, ३ अर्थहेतुक विनय, ४ भयहेतुक विनय और ५ मोक्षहेतुक विनय। इन पॉच प्रकार की विनयो मे से मोक्षहेतुक विनय ही आश्रयणीय है, अन्य नही।

वन्दना के बत्तीस दोष

सयमी की ही वन्दना करनी चाहिए, असयमी दीक्षागुरु की वन्दना कभी नही करनी चाहिए।[५] गुरुवन्दना करते समय निम्न बत्तीस दोषो को बचाना चाहिए।[६]

---

१ अन.ध. ८ ५४

२ वही। तथा देखिए, मू.आ. ६०७, आचारसार ६५

३ वाखित्तपराहुत तु पमत्त मा कदाई वदिज्जो।
आहार च करतो णीहार वा जदि करेदि।। —मू.आ. ५९९,
तथा देखे, अन.ध. ८ ५३

४ अन.ध. ८ ४८, मू.आ. ५८२

५ अन.ध. ८ ५२

६ अन.ध. ८ ९८-१११, —मू.आ. ६०५-६०९

१ **अनादृत** (आदरभावरहित), २. **स्तब्ध** (ज्ञान, जाति आदि के मद से युक्त), ३. **प्रविष्ट** (परमेष्ठियों की अतिनिकटता में), ४ **परिपीडित** (अपने हाथों से घुटनों का स्पर्श करना), ५ **दोलायित** (झूले की तरह शरीर को आगे-पीछे करते हुए अथवा फल में सन्देह के साथ), ६. **अंकुशित** (मस्तक पर अंकुश की तरह अगूठा रखकर), ७ **कच्छपरिंगित** (वन्दना करते समय बैठे-बैठे कछुए की तरह सरकना या कटिभाग को नचाना), ८. **मत्स्योद्वर्त** (मछली की तरह एक पार्श्व से उछलना), ९. **मनोदुष्ट** (गुरु आदि के चित्त में खेद पैदा करना), १० **वेदिकाबद्ध** (दोनो हाथो से दोनो घुटनों को बाधते हुए या दोनो हाथो से दोनो स्तनो को दबाते हुए), ११ **भय** (सात प्रकार का भय), १२ **बिभ्यता** (आचार्य-भय), १३ **ऋद्धिगौरव** (सघ के मुनि मेरे भक्त बन जायेगे, ऐसी भावना), १४ **गौरव** (यश या आहारादि की इच्छा), १५. **स्तेनित** (गुरु आदि से छिपकर), १६ **प्रतिनीत** (प्रतिकूलवृत्ति रखकर गुरु का आदेश न मानना), १७ **प्रदुष्ट** (वन्दनीय से द्वेष रखना, क्षमा न माँगना), १८ **तर्जित** (अगुलि से भय दिखाकर या आचार्य से तर्जित होना), १९ **शब्द** (वार्तालाप करते हुए वन्दना), २० **हेलित** (दूसरो का उपहास करना या आचार्य आदि का वचन से तिरस्कार करना), २१ **त्रिवलित** (मस्तक मे त्रिवलि बनाना), २२ **कुंचित** (सकुचित होकर) २३. **दृष्ट** (अन्य दिशा की ओर देखना), २४. **अदृष्ट** (गुरु की आखो से ओझल होकर या प्रतिलेखना न करना), २५ **संघकरमोचन** (वन्दना को सघ की ज्यादती मानना), २६ **आलब्ध** (उपकरण आदि की प्राप्ति होने पर), २७ **अनालब्ध** (उपकरणप्राप्ति की आशा), २८ **हीन** (कालादि के प्रमाणानुसार न करना), २९ **उत्तरचूलिका** (वन्दना शीघ्र करके उसकी चूलिकारूप आलोचना आदि मे अधिक समय लगाना), और ३० **मूक** (मौनभाव), ३१ **दर्दुर** (खूब जोरो से बोलना, जिससे दूसरो की आवाज दब जाए) और ३२. **सुललित** (गाकर पाठ करना)। इसी प्रकार अन्य दोषों की उद्‌भावना कर लेना चाहिए।

वन्दना के पर्यायवाची नाम

कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म तथा विनयकर्म ये वन्दना के पर्यायवाची (एकार्थवाची) नाम हैं।[1] पापों के विनाशन का उपाय 'कृतिकर्म' है अर्थात् जिस

---

१. मू. आ. ५७८ (आचारवृत्तिटीकासहित)

अक्षर-समूह से या जिस परिणाम से या जिस क्रिया से आठो प्रकार के कर्मों को काटा जाता है उसे कृतिकर्म कहते हैं। पुण्यसचय का कारणभूत 'चितिकर्म' कहलाता है। जिसके द्वारा कर्मों का निराकरण किया जाता है उसे 'विनयकर्म' या 'शुश्रूषा' कहते हैं।

महत्त्व

वन्दना की गणना साधु के छह आवश्यको मे की जाती है तथा विनय को आभ्यन्तर तप स्वीकार किया गया है। अल्पश्रुत (अल्पज्ञ) भी विनय के द्वारा कर्मों का क्षपण कर देता है। अतएव किसी भी तरह विनय का परित्याग नही करना चाहिए।[1]

कौन किसकी वन्दना करे और किसकी न करे?

गृहस्थ को सभी सच्चे साधुओ की वन्दना करनी चाहिए, जो सच्चे साधु नही हैं उनकी वन्दना नही करनी चाहिए। गृहस्थ को गुणो मे अपने से श्रेष्ठ गृहस्थ की भी वन्दना करनी चाहिए। जैसे नीचे की प्रतिमाधारी अपने से ऊपर की प्रतिमाधारी की वन्दना करे। शेष वन्दना का क्रम लोकाचारपरक है। साधुओ मे वन्दना का क्रम निम्न प्रकार है–

सच्चे विरत साधु को अपने से श्रेष्ठ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर की वन्दना (कृतिकर्म) करनी चाहिए तथा अविरत माता, पिता, लौकिक-गुरु, राजा, अन्यतीर्थिक (पाखण्डी), देशविरतश्रावक, देवगति के देव तथा पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी मुनियो की वन्दना नही करनी चाहिए।[2] लौकिक व्यापारयुक्त, स्वेच्छाचारी, दम्भयुक्त, परनिन्दक, आरम्भ-क्रियाओ आदि से युक्त श्रमण की वन्दना नही करनी चाहिए, भले ही वह चिरकाल से दीक्षित क्यो न हो?[3] साधु सघ मे ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक और आर्यिकाये भी रहती है। ये क्रमश गुणक्रम मे ज्येष्ठ हैं। अत ज्येष्ठक्रम से वन्दनीय है। जो साधु अथवा ब्रह्मचारी आदि श्रावक हैं वे यदि परस्पर समान कोटि के हैं तो दीक्षाक्रम या व्रतधारण के काल से ज्येष्ठ होने से वन्दनीय होगे।

१ मू.आ. ५९०-५९१

२ मू.आ. ५९३-५९४, ५९७-५९८, मू.आ., प्रदीप ३ ४५०-४५७

३ मू.आ. ९५९-९६०

वन्दना कैसे करें?

देव, आचार्य आदि की वन्दना करते समय साधु को कम से कम एक हाथ दूर रहना चाहिए, तथा वन्दना के पूर्व पिच्छिका से शरीरादि का परिमार्जन करना चाहिए।[१] आर्यिकाओं को पाँच हाथ की दूरी से आचार्य की, छह हाथ की दूरी से उपाध्याय की, और सात हाथ की दूरी से श्रमण की वन्दना गवासन से बैठकर करनी चाहिए।[२] वन्दना को गुरु गर्वरहित होकर शुद्ध भाव से स्वीकार करे तथा प्रत्युत्तर मे आशीर्वाद देवे।[३] आजकल श्रमणसघ में साधु और आर्यिकाओं के अलावा साधु बनने के पूर्व की भूमिका वाले ऐलक, क्षुल्लक तथा ब्रह्मचारी भी रहते हैं। ऐलक और क्षुल्लक परस्पर 'इच्छामि' कहते हैं। मुनियो को सभी लोग 'नमोऽस्तु' (नमस्कार हो) तथा आर्यिकाओ को 'वंदामि' (वन्दना करता हूँ) कहते है। मुनि और आर्यिकाये नमस्कर करने वालो को निम्न प्रकार कहकर आशीर्वाद देते हैं–[४] यदि व्रती हो तो 'समाधिरस्तु' (समाधि की प्राप्ति हो) या 'कर्मक्षयोऽस्तु' (कर्मों का क्षय हो), अव्रती श्रावक-श्राविकाये हो तो 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' (सद्धर्म की वृद्धि हो), 'शुभमस्तु' (शुभ हो) या 'शान्तिरस्तु' (शान्ति हो); यदि अन्य धर्मावलम्बी हो तो 'धर्मलाभोऽस्तु' (धर्मलाभ हो), यदि निम्नकोटि वाले (चाण्डालादि) हो तो 'पापक्षयोऽस्तु' (पाप का विनाश हो)।

अन्य विषय

अन्य संघ से समागत साधु के प्रति आचार्य आदि का व्यवहार

किसी दूसरे सघ से साधु के आने पर वात्सल्यभाव से या जिनाज्ञा से उस अभ्यागत साधु का उठकर प्रणामादि के द्वारा स्वागत करना चाहिए। सात कदम आगे बढकर उसके रत्नत्रयरूप धर्म की कुशलता पूछनी चाहिए।[५] इसके बाद

---

१ मू.आ. ६११

२ पच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वदति।। –मू.आ. १९५

३ मू.आ. ६१२

४ नमोऽस्त्विति नतिं शास्ता समस्तमतसम्मता।
कर्मक्षयः समाधिस्तेऽस्त्वित्यार्यार्य जने नते।।
धर्मवृद्धिः शुभं शान्तिरस्त्वित्याशीरगारिणी।
पापक्षयोऽस्त्विति प्राज्ञैश्चाण्डालादिषु दीयताम्।। –आचारसार ६६-६७

५ मू.आ. १६०-१६१

तीन रात्रिपर्यन्त प्रत्येक क्रिया मे उसके साथ रहकर उसकी परीक्षा करनी चाहिए।[१] परीक्षोपरान्त साधु यदि योग्य है तो उसे संघ में आश्रय देना चाहिए और यदि अयोग्य है तो आश्रय नही देना चाहिए।[२] यदि साधु में दोष हैं तो छेदोपस्थापना आदि करके ही सघ मे रखना चाहिए। यदि बिना छेदोपस्थापना आदि किए आचार्य उसे संघ मे रख लेते है तो आचार्य भी छेद के योग्य हो जाते है।[३] अपराध की शुद्धि उसी संघ मे होना चाहिए जिसमे वह रहता है, अन्य मे नही।[४]

बाईस परीषह-जय[५]

साधु को मोक्षमार्ग की साधना करते समय भूख -प्यास आदि अनेक कष्ट सताते हैं। क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन तपोमय है। तप की सफलता कष्टो को सहन किए बिना सम्भव नही है। शरीरादि के प्रति आसक्ति ही कष्ट का कारण है। अत: कष्टो के उपस्थित होने पर उन कष्टो को खेदखिन्न न होते हुए क्षमा-भाव से सहन करना परीषहजय है। इससे वे मार्गभ्रष्ट होने से बचे रहते है तथा कर्मनिर्जरा भी करते हैं। वे बाईस परीषह निम्न प्रकार हैं—

१ क्षुधा (भूख), २ तृषा (प्यास), ३ शीत (ठढक), ४ उष्ण (गर्मी), ५ दशमसक (मच्छर, डास मक्खी आदि क्षुद्र जन्तुओ के काटने पर), ६ नाग्न्य (नग्न रहना), ७ अरति (सयम मे अरुचि), ८ स्त्री (स्त्री आदि को देखकर कामविकार), ९ चर्या (विहार-सम्बन्धी), १० निषद्या (श्मशान, शून्यगृहादि वसतिका-सम्बन्धी), ११ शय्या (शयन करने का ऊँचा-नीचा स्थान), १२ आक्रोश (क्रोधयुक्त वचन सुनकर), १३ वध (मारने को उद्यत होने पर), १४ याचना (आहारादि याचनाजन्य), १५ अलाभ (आहारादि की प्राप्ति न होने पर), १६ रोग (बीमारी होने पर), १७ तृणस्पर्श (शुष्क तिनको के चुभने का कष्ट), १८ मल (पसीना, धूलि आदि जन्य), १९ सत्कार-पुरस्कार (आदर-सत्कार आदि न होने पर), २० प्रज्ञा (ज्ञानमद), २१ अज्ञान (ज्ञान की प्राप्ति न होने पर) और २२ अदर्शन (तपश्चर्या आदि का फल न दिखने पर श्रद्धान मे कमी होना)।

---

१ मू॰आ॰ १६२-१६४

२ मू॰आ॰ १६७

३ मू॰आ॰ १६८

४ मू॰आ॰ १७६

५ अन॰ध॰ ६ ४७६-४९०

इन परीषहों या अन्य उपसर्गों के आने पर साधु को साधना मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए। इन परीषहो को अथवा इनके समान अन्य परेशानियों को शान्त भाव से सहन करना ही परीषहजय है।

साधु की सामान्य दिनचर्या[1]

संभावित समयक्रम	*करणीय कार्य*
प्रातः ६-८ के मध्य	देववन्दना, आचार्यवन्दना, सामायिक एवं मनन
प्रातः ८-१० के मध्य	पूर्वाह्णिक स्वाध्याय
दिन मे १०-२ के मध्य	आहारचर्या (यदि उपवासयुक्त है तो क्रम से आचार्य एव देववन्दना तथा मनन)। आहार के बाद मगलगोचर-प्रत्याख्यान तथा सामायिक
दोपहर २-४ के मध्य	अपराह्णिक-स्वाध्याय
साय ४-६ के मध्य	दैवसिक-प्रतिक्रमण तथा रात्रि-योग-धारण
रात्रि ६-८ के मध्य	आचार्य-देववन्दना, मनन एवं सामायिक
रात्रि ८-१० के मध्य	पूर्वरात्रिक-स्वाध्याय
रात्रि १०-२ के मध्य	निद्रा
रात्रि २-४ के मध्य	वैरात्रिक-स्वाध्याय
रात्रि ४-६ के मध्य	रात्रिक-प्रतिक्रमण

नोट- दैवसिक-क्रियाओ की तरह रात्रिक-क्रियाओ मे समय का निश्चित नियम नही है। देश-कालानुसार इसमे थोड़ा सशोधन संभावित है। परन्तु करणीय कार्य यथावसर अवश्य करना चाहिए।

आर्यिका-विचार

अर्यिका उपचार से महाव्रती है, पर्यायगत अयोग्यता के कारण वह साधु नही बन पाती। ऐलक और क्षुल्लक तो अभी श्रावकावस्था मे ही हैं। अतएव उनमे उपचार से महाव्रतीपना नही है। जैसाकि सागारधर्मामृत मे कहा है— एक कौपीन (लगोटी) मात्र मे ममत्व के कारण उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) महाव्रती नहीं है जबकि आर्यिका एक साड़ी रखकर भी उसमे ममत्व न होने के कारण उपचार

---

१. देखें, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृ. १३७

से महाव्रती है।[१] उत्तम संहनन वाले को ही मुक्ति मिलती है। स्त्रियों में जघन्य तीन सहनन माने गए हैं जिससे वे निर्विकल्पध्यान नहीं कर पातीं। नग्न दीक्षाव्रत पालन करना स्त्रियों को उचित नही है क्योंकि उनके साथ बलात्कार की संभावना अधिक है। इसके अलावा मासिक धर्म, लज्जा, भय आदि भी स्त्रियों में हैं। सभवत: इसीलिए स्त्रियो को नग्न-दीक्षा नही बतलाई गई है। शास्त्रसम्मत पर्यायगत अयोग्यता के कारण स्त्री महाव्रती नही हो पाती। उसे उपचार से महाव्रती कहा गया है। ऐलक को ऐसी पर्यायगत अयोग्यता नही है। अतएव उसे उपचार से भी महाव्रती नही कहा है। यही कारण है कि आर्यिका ऐलक के द्वारा वन्दनीय है। पिच्छी और कमण्डलु आर्यिका, ऐलक और क्षुल्लक सभी रखते हैं। आर्यिकाओ का आचारादि प्राय: मुनि के ही समान होता है।[२] जैसे– महाव्रतो का पालन करना, पिच्छी-कमण्डलु और शास्त्र रखना, करपात्र मे आहार करना, केशलौञ्च करना आदि। परन्तु कुछ अन्तर भी है, जैसे– बैठकर भोजन करना (खड़े-खड़े नही), दो सफेद साड़ियो का परिग्रह रखना (एक बार मे एक साड़ी पहनना), नग्न न रहना आदि।[३] पूर्णमहाव्रती न होने से दिगम्बर-परम्परा मे आर्यिकाओ को तद्भव मोक्षगामी नही माना गया है। स्त्री-क्षुल्लिकाये भी होती हैं। सभी आर्यिकाये आचार्य के नेतृत्व मे ही अपनी सयमयात्रा का निर्वाह करती हैं। श्रमण सघ मे जो स्थान आचार्य का होता है वही स्थान आर्यिकासघ मे गणिनी (महत्तरिका, प्राधान आर्यिका, स्थविरा) का होता है। आर्यिका के आने पर साधु को उनके साथ एकाकी उठना-बैठना नही चाहिए।[४]

उपसंहार

इस तरह साधु-जीवन आत्मशोधन का मार्ग है। इसके लिए उसे सतत जागरूक रहना होता है। प्रत्येक व्यवहार मे यत्नाचारपूर्वक मन, वचन और काय की शुद्धि का ध्यान रखना होता है। वीतरागता, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि का सम्यक् निर्वाह हो एतदर्थ मूलगुणो और उत्तरगुणो का पालन करना पड़ता

---

१ कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति।। –सागार० ८ ३७

२. एसो अज्जाण पि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्व।
सव्वम्हि अहोरत्त विभासिदव्वो जधाजोग्ग।। –मूलाचार ४.१८७

३ महाकवि दौलतरामकृत क्रियाकोश,
भ०आ० ७९, सुत्तपाहुड २२,

४ मू०आ० १७७-१८२

है। समय-समय पर विशेष तपश्चर्यादि करनी होती है। दिगम्बर जैन मान्यता मे सवस्त्र की पूजा नहीं होती। अतः क्षुल्लकादि को गुरु नहीं कहा गया है।

साधुपद मे चारित्र की प्रधानता है, श्रुत की नहीं।[१] क्योंकि चरित्रहीन साधु का बहुश्रुतज्ञपना भी निरर्थक है।[२] चारित्र की शुद्धि के लिए ही पिण्डादि शुद्धियों का विधान किया गया है।[३] ज्ञान का महत्त्व तब है जब व्यक्ति ज्ञान के अनुसार आचरण करे। ज्ञान हो और आचार न हो तो वह ठीक नही है। यह भी जानना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता है। अतएव सम्यक्चारित्र के लिए सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति हेतु सदा प्रयत्नशील रहे। यहाँ इतना विशेष है कि साधु तभी बने जब साधुधर्म का सही रूप मे पालन कर सके। अपरिपक्व बुद्धि होने पर अथवा आवेश मे दीक्षा न स्वयं लेवे और न दूसरों को देवे। पापश्रमण न बने। पापश्रमण बनने की अपेक्षा पुनः गृहस्थधर्म मे आ जाना श्रेष्ठ है। साधुधर्म बहुत पवित्र धर्म है। अतएव जो इसका सही रूप मे पालन करता है वह भगवान् कहलाता है, जैसाकि मूलाचार मे कहा है—

जो आहार, वचन और हृदय का शोधन करके नित्य ही सम्यक् आचरण करते हैं वे ही साधु हैं। जिनशासन मे ऐसे साधु को भगवान् कहा गया है।[४]

अज्ञान-तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं।
णमो लोएसव्वसाहूणं

●

---

१. मू.आ. ८९९-९००

२. मू.आ. ९३५

३ मू.आ. ९०९

४ भिक्खं वक्कं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं।। —मू.आ. १००६

चतुर्थ अध्याय

उपसंहार

आज के इस भौतिकवादी युग मे जितनी सुख-सुविधाओं का आविष्कार हो रहा है, मनुष्य उतना ही अधिक मानसिक-तनाओ से ग्रसित होता जा रहा है। पहले भी मानसिक तनाव थे और भौतिकता के प्रति आकर्षण था परन्तु उस समय धार्मिक आस्था थी जो आज प्राय लुप्त होती जा रही है। इन मानसिक तनाओ से तथा सासारिक दुखो से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य विविध माध्यमो को अपनाते रहे हैं और आज भी अपना रहे है। इन्हे हम निम्न चार वर्गों मे विभक्त कर सकते हैं–

प्रथम वर्ग– सुरापान, सुन्दरी-सेवन आदि विविध प्रकार के साधनो को अपनाकर कैंसर, एड्स आदि विविध शारीरिक रोगो को आमन्त्रित कर रहा है। **द्वितीय वर्ग**– स्वार्थों की पूर्ति हेतु या तो कपटाचार करता है या फिर किसी तरह जीवन-नौका को चलाता है। **तृतीय वर्ग**– सन्यासमार्ग को अपनाकर सुख की तलाश कर रहा है। यह वर्ग दो उपभागो मे विभक्त है– पापश्रमण और सच्चे श्रमण। **चतुर्थ वर्ग**– मध्यस्थमार्ग अपनाकर सन्यासी तो नही बनता परन्तु गृहस्थ जीवन मे सदाचारपरायण होते हुए या तो निष्पक्ष समाजसेवा आदि करता है या फिर अपने मे ही लीन रहता है। इन चार वर्गों मे से तृतीय वर्ग के सच्चेश्रमण तथा चतुर्थ वर्ग वाले श्रावक (सदाचारी गृहस्थ) ऐसे हैं जो सही दिशा मे आगे बढ़ रहे हैं। श्रावको के आदर्श गुरु हैं- सच्चे साधु (मुनि, तपस्वी)।

सन्यासमार्गी साधु वर्ग दो उपभागो मे विभक्त है– सच्चे-साधु और खोटे-साधु (पापश्रमण, सदोषसाधु)। खोटे साधुओ के भी दो वर्ग हैं–

१ पहले वे जिनलिङ्गी साधु हैं, जो देखने मे तो वीतरागी हैं और सच्चे देवो की उपासना भी करते हैं परन्तु अन्दर से मलिन है तथा सच्चे देवो की पूजा आदि के माध्यम से स्वार्थसिद्धि में लीन हैं। यश. की कामना अथवा स्वार्थसिद्धिहेतु ये सच्चे शास्त्रो के नाम पर मिथ्या उपदेश करते हैं। मन्त्र-तन्त्र, ज्योतिष आदि विविध क्रियाओ के माध्यम से लोगो को भ्रमित करते हैं। वस्तुतः ये साधु नही है अपितु साधुवेष मे गृहस्थो पर अपना प्रभाव जमाते हैं। इनमे कुछ मठाधीश भी बन जाते हैं।

२ दूसरे खोटे-साधु वे है जो जिनलिङ्ग-बाह्य हैं और गृहस्थों की तरह रहते हुए भी अन्य गृहस्थों के आश्रित बने हुए हैं। इन दोनों प्रकार के खोटे-साधुओं से सदाचारी सद्गृहस्थ (श्रावक) श्रेष्ठ हैं। ये खोटे-साधु न तो ठीक से गृहस्थाश्रम का पालन करते हैं और न संन्यासाश्रम का। इनके लिए आत्मध्यान तथा आध्यात्मिक चेतना का सुख तो कोशो दूर है।

सच्चे-साधु भी दो प्रकार के हैं– १ सूक्ष्म रागयुक्त व्यवहाराश्रित सराग-साधु (छठे गुणस्थान से लेकर दसवे गुणस्थान-वर्ती साधु) तथा २. निश्चयनयाश्रित पूर्णवीतरागी साधु (ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थानवर्ती साधु)। वस्तुत तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती साधुओ को अर्हन्त (जीवन्मुक्त) देव कहा गया है। ग्यारहवाँ और बारहवाँ गुणस्थान छद्मस्थ वीतरागियो का है। अत ग्यारहवे गुणस्थान से पूर्व की विविध-अवस्थाये व्यवहाराश्रित साधु की हैं। पूर्ण अहिंसा, सत्य, आचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतो के धारण करने से ही सच्चा साधु होता है। ये सच्चे साधु मन्त्र-तन्त्र प्रयोग तथा सासारिक विविधक्रियाकलापो से बहुत दूर रहते हैं। यदि साधु बनने के बाद भी इनका प्रयोग करते हैं तो कैसे वीतरागी साधु? यदि इन प्रयोगो के द्वारा जनकल्याण की भावना है तो साधुवेष की अपेक्षा श्रावकवेष धारण करके समाजसेवा आदि पुण्य कार्यों को करना चाहिए। क्योंकि आगम मे इनका प्रयोग साधु को वर्जित बतलाया है। सच भी है 'वीतरागी को ऐसे सासारिक पुण्यकार्यों से क्या प्रयोजन'? जैसे श्रावक होकर पण्डितवर्ग ज्ञान देता है उसी प्रकार एक ऐसा श्रावक-पण्डित या भट्टारक हो जो मत्रादि प्रयोगों को सिद्ध करके धर्मप्रभावनार्थ या देशसेवार्थ कार्य करे, स्वार्थपूर्ति हेतु नही। इससे साधु के स्वरूप में विकृति नही होगी।

पाँच महाव्रतो से अतिरिक्त अन्य तेईस मूलगुण, अनेक उत्तरगुण, पिच्छी कमण्डलु-धारण, विविध व्रत-नियम पालन आदि अहिंसादि पाँच महाव्रतो के सरक्षणार्थ हैं। आत्मचिन्तन मे लीन होकर अपने शरीर तक से विरक्त हो जाना सच्चे साधु का लक्षण है। चूंकि जीवन्मुक्ति के पूर्व अथवा ग्यारहवें गुणस्थान के पूर्व सदाकाल आत्मचिन्तन में लीन (ध्यानमुद्रा) होना सम्भव नहीं है। अतः ध्यानेतर काल मे कुछ अन्य क्रियायें भी करनी पड़ती हैं। शरीर-माध्यम से ही ध्यान-साधना हो सकती है। अतः भोजनादि मे प्रवृत्ति करना अनिवार्य हो जाता है। भोजनादि में प्रवृत्ति करते समय आहार-विहार सम्बन्धी नियमो का परिपालन

करना पड़ता है। भोजनादि के न मिलने पर क्षुधादि कष्टो को सहन करना पड़ता है, यदि क्षुधादि कष्टो (परीषहो) के उपस्थित होने पर चञ्चल हुए तो साधु कैसे? हर्ष और विषाद दोनो-अवस्थाओ मे समभाव वाला ही सच्चा साधु है, अन्य नहीं। ऐसा समदर्शी साधु ही हमारा आराध्य है, गुरु है। क्योंकि उसने शारीरिक, मानसिक और वाचिक सभी प्रकार के कष्टो पर विजय प्राप्त कर ली है। कष्टों का कारण है राग और जहाँ राग है वही द्वेष है। राग-द्वेष के होने पर क्रोधादि चारो कषाये और नौ नोकषाये होती हैं। अत साधु को वीतरागी कहा है, क्योंकि जहाँ राग नही वहाँ द्वेषादि तथा कष्ट भी नही होते हैं। साधु ध्यान-साधना के द्वारा ही गुणस्थान की सीढियो को चढ़ता है। ध्यान टूटते ही नीचे छठे गुणस्थान तक आ जाता है क्योंकि छठे गुणस्थान से ऊपर के सभी गुणस्थान ध्यान से सम्बन्धित है। ध्यान के चार भेद गिनाए गए हैं– आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। इनमे आर्त (इष्टवियोग-अनिष्टसयोग-जन्य पीड़ा मे एकाग्रता) और रौद्र (क्रोधादि परिणामो से जन्य एकाग्रता) ध्यान सर्वथा वर्जित है, शेष दो ध्यान ही करणीय हैं। शुक्ल ध्यान सर्वोत्कृष्ट है। ध्यान के लिए योग्य वसतिका का भी चयन आवश्यक है, अन्यथा ध्यान सभव नही है।

साधु-समुदाय शासन-व्यवस्था की दृष्टि से आचार्य (सघपति, दीक्षाचार्य, प्रधानसाधु), उपाध्याय (शास्त्रवेत्ता, अध्यापक) और सामान्य साधु इन तीन वर्गों मे विभक्त है। कार्यानुसार अल्पकालिक बालाचार्य, निर्यापकाचार्य आदि अन्य व्यवस्थाये भी हैं। इस साधु-समुदाय मे दीक्षाकाल की दृष्टि से ज्येष्ठता होती है और जो दीक्षा की अपेक्षा ज्येष्ठ होता है वही पूज्य होता है। यदि आचार्य किसी अपराधवश किसी साधु की दीक्षा का छेद करता है तो जितनी दीक्षा-अवधि कम की जाती है तदनुसार उसकी वरिष्ठता उतनी कम हो जाती है। ऐसी स्थिति मे कभी-कभी उसे ऐसे साधु को भी नमस्कार करना पड़ता है जो दीक्षा-छेद के पूर्व उसे नमस्कार करता था। अचार्य सर्वोपरि होता है। इस तरह साधुवर्ग मे चारित्र धारण-काल से ज्येष्ठता मानी गई है। यह एक व्यवहार-व्यवस्था है। निश्चय से तो केवली ही जान सकता है, अन्य नही। अतएव निश्चयनय को लेकर व्यवहार-व्यवस्था को तोड़ना उचित नही है। साधुओ मे भी परस्पर गुरु-शिष्य भाव है परन्तु गृहस्थो के लिए सभी सच्चे साधु गुरु हैं, पूज्य हैं।

महिलाओ का अलग वर्ग है जिसे 'आर्यिका' कहा जाता है। इनमे जो प्रधान होती है उसे गणिनी (महत्तरिका, प्रधान-आर्यिका) कहते हैं। गणिनी आर्यिकासंघ

में आचार्यवत् कार्य करती है परन्तु प्रधानता आचार्य की ही रहती है। ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि यद्यपि साधुसंघ में रहते हैं परन्तु हैं वे श्रावक ही। अतः उन्हें गुरु नहीं कहा गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्हें नमस्कार नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रावकों में भी परस्पर प्रतिमाओं के क्रम से श्रेष्ठता है। आर्यिका को ऐलक से अवश्य श्रेष्ठ बतलाया गया है क्योंकि वह उपचार से महाव्रती है और ऐलक अणुव्रती।

जब समदर्शी सच्चा साधु साधना के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय कर देता है तो वह 'देव' बन जाता है। जीवन्मुक्त (तेरहवे और चौदहवे गुणस्थानवर्ती अर्हन्त) और विदेहमुक्त (सिद्ध) ये दोनो गुरु भी हैं और सच्चे देवों की कोटि में भी आते हैं। देवजाति के संसारी जीवों से पृथक् करने के लिए इन्हे 'देवाधिदेव' या भगवान् कहा जाता है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न होकर भी ये सृष्टि आदि कार्यों से विरत रहते हैं, क्योंकि वीतरागी हैं, उन्हे कोई इच्छा नहीं है। वीतरागी होने से निन्दा-स्तुति का यद्यपि इन पर प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि स्तुतिकारक और निन्दक अपने-अपने परिणामों के अनुसार शुभाशुभ फल अवश्य प्राप्त करते हैं। वस्तुत प्रत्येक आत्मा परमात्मा (भगवान्) है। जब तक कर्म का आवरण है तब तक ससार है, शरीर है और कष्ट हैं। आवरण हटते ही शुद्ध आत्मज्योति दिव्यरूप से प्रकट हो जाती है। यही आत्मा का शुद्धरूप ही देवत्व है। इसके अतिरिक्त देवजाति के देवो में जो देवत्व है वह केवल भौतिक समृद्धि मात्र है। रागादि का सद्भाव होने से देवजाति के देव पूज्य नही हैं। कुछ देव जाति के देव सम्यग्दृष्टि भी हैं। सभी देवो की समृद्धि नित्य नहीं है। अर्हन्त और सिद्ध देवो की अनन्तचतुष्टयरूप समृद्धि अविनश्वर है तथा उनमें रागादि का सर्वथा अभाव होने से पूज्यता भी है। ऐसे अर्हन्त और सिद्ध देव ही सच्चे देव हैं।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या इन्द्र के आदेश से अर्हन्त की सेविका पद्मावती आदि देवियाँ और सेवक शासनदेवो की अर्हन्त के समान आराधना करनी चाहिए? उत्तर स्पष्ट है कि जैनशासन में मिथ्यादृष्टि कथमपि पूज्य नहीं हैं। शासन देवी-देवता भवनत्रिक के मिथ्यादृष्टी देव हैं और इन्द्र के आदेश से सेवक की तरह कार्य करते हैं। मिथ्यादृष्टि सेवक देवों से मोक्ष सुख की कामना करना आकाश-कुसुम को पाने की इच्छा की तरह निष्फल है। मिथ्यादृष्टि की आराधना से मिथ्यात्व ही बढ़ सकता है, सम्यक्त्व नहीं। उन्होंने अर्हन्तों की सेवा की है। अतएव उनके प्रति वात्सल्य भाव तो रखा जा सकता है, अर्हन्तवत् पूजा

नही। भ्रमवश कुछ ऐसे लोग है जो देव मन्दिरो मे अर्हन्तदेव की उपेक्षा करके इन्ही शासन देवी-देवताओ की पूजा बड़े भक्तिभाव से करते हैं। अज्ञानवश एवं भयवश कुछ ऐसे भी लोग है जो इन कुदेवो (मिथ्यादृष्टि देवो) के साथ अदेवो (कल्पित देवो = जिनका नाम जैन देवो मे नही आता) की भी पूजा करते हैं। यह भी मिथ्यात्व है। वस्तुत: अध्यात्म-प्राप्ति हेतु अर्हन्त, सिद्ध और मुनि की पूजा की जाती है, सासारिक समृद्धि के लिए नही। सासारिक समृद्धि कृषि आदि सासारिक व्यवसायो से करना चाहिए। अर्हन्त की पूजा से भी परिणामो की निर्मलता होने पर सासारिक-समृद्धि अपने आप प्राप्त होती है। उनसे याचना करके निदानबध करना उचित नही है। हमे यदि मागना ही है तो अर्हन्त देवो से मागे, अधम मिथ्यादृष्टि देवो से नही। महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है– 'फल प्राप्त होने पर भी अधम से याचना नही करनी चाहिए। श्रेष्ठ (देवाधिदेव) से याचना करना ठीक है, भले ही वह निष्फल हो' (याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा)। फिर अर्हन्त की आराधना कभी निष्फल नही होती।

ऐसे सच्चे देवो मे रागादि का सर्वथा अभाव होने से उनके उपदेशादि कैसे होगे? ऐसी आशका होने पर कहा गया है कि अर्हन्त तीर्थङ्करो की दिव्यध्वनि सम्पूर्ण शरीर से खिरती है। वस्तुत वे हमारी तरह बोलते नही हैं फिर भी उपस्थित जीव-समुदाय उन्हे देखकर अपनी-अपनी भाषा मे कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार समझ लेते हैं। सर्वाधिक समझने की शक्ति गणधरो मे होती है। गणधर उस वाणी को समझकर शब्दरूप मे हमे देते हैं। वह शब्दरूप वाणी ही सच्चे शास्त्र हैं। गणधरो ने सर्वप्रथम जिन ग्रन्थो की रचना की थी वे थे आचाराङ्ग आदि अङ्गप्रविष्ट ग्रन्थ। पश्चात् परवर्ती आचार्यों ने अन्य अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया। कालदोष से दिगम्बर मान्यतानुसार आचाराङ्ग आदि अग-ग्रन्थ लुप्त हो गए। परन्तु बारहवे दृष्टिवाद नामक अङ्ग-ग्रन्थ के पूर्वों के एकाश-ज्ञाताओ द्वारा कषायपाहुड और षट्खण्डागम ग्रन्थ लिखे गए। इन्ही के आधार पर कालान्तर में अन्य ग्रन्थ लिखे गए। इसी परम्परा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार आदि ग्रन्थो को लिखकर एक अभिनव क्रान्ति पैदा की जिससे आगे की परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नाय के नाम से विख्यात हुई। पश्चात् उमास्वामी, समन्तभद्र आदि आचार्यों ने प्रामाणिक ग्रन्थो का प्रणयन किया।

आज प्रश्न इस बात का है कि आचार्यों के शास्त्रो के अर्थ को सही कैसे समझा जाए? इसके लिए आचार्यों ने निश्चय-व्यवहार आदि विविध नयदृष्टियाँ

प्रदान की हैं। साथ ही यह भी बतलाया कि निरपेक्ष एक नय की दृष्टि से किया गया कथन एकान्तवाद होगा, मिथ्यावाद होगा। अतः शास्त्रों का अर्थ करते समय स्याद्वाद-सिद्धान्तानुसार ही अर्थ करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उत्सर्ग और अपवाद मार्गों का भी ध्यान रखना चाहिए। कहाँ, किस सन्दर्भ में क्या कहा गया है? इसका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है अन्यथा भ्रम पैदा होंगे। कभी-कभी हम अपने अज्ञान या दुराग्रह के वशीभूत होकर सच्चे शास्त्रों की गलत व्याख्या कर देते हैं जो सर्वथा-अनुचित है। अतः अर्थ करते समय मूल सिद्धान्त नही भूलना चाहिए। सच्चे शास्त्र वही हैं जो स्याद्वाद-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे वीतरागता का प्रतिपादन करते हैं। ऐसे सच्चे शास्त्र ही पूज्य हैं। इनसे भिन्न लौकिक अर्थों का व्याख्यान करनेवाले शास्त्र यहाँ अभिप्रेत नही हैं।

इस समस्त चिन्तन से स्पष्ट है कि आचार्य, उपाध्याय और साधु मे आचारगत तात्त्विक भेद नही, अपितु औपाधिक भेद हैं। ये तीनो ही श्रमण गुरु शब्द के वाच्य हैं। ये ही सच्चे गुरु हैं। अचार्य, उपाध्याय और साधु ध्यान के द्वारा जब गुणस्थान क्रम से अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं तो उन्हे सच्चे देव कहने लगते हैं। इस अवस्था मे वे परमौदारिकशरीरधारा हो जाते हैं जिससे उन्हे भूख, प्यास आदि नहीं लगती। शस्त्रादि का उनके शरीर पर प्रभाव नही पड़ता। आयुकर्म के पूर्ण होने पर वे अशरीरी सिद्ध होकर लोकाग्र मे स्थित हो जाते हैं। इस तरह सशरीरी अर्हन्त और अशरीरी सिद्ध दोनो ही सच्चे देव (भगवान्) हैं। इन्हे उपचार से सच्चे गुरु भी कहा गया है क्योंकि हमारे आदर्श ये ही हैं। जिनसे हमे इनकी वाणी का साक्षात् उपदेश मिलता है वे आचार्य, उपाध्याय और साधु हमारे सच्चे गुरु हैं। सच्चे देव और सच्चे गुरु की वाणी तथा उनकी वाणी का लिखित रूप ही सच्चे शास्त्र हैं। ऐसे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु को मेरा शत शत वन्दन।

●

प्रथम परिशिष्ट : प्रसिद्ध दिगम्बर जैन शास्त्रकार आचार्य और शास्त्र

श्रेणी-क्रम से शास्त्रकारों और उनके शास्त्रों का परिचय

(क) श्रुतधराचार्य

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय[1], परिचयादि
गुणधर	कसायपाहुड (पेज्जदोसपाहुड)	वि पू प्रथम शताब्दी। अर्हद्बलि (वी.नि.स. ५६५) या वि॰ सं॰ ९५ से पूर्ववर्ती। कसायपाहुड और षट्खण्डागम के अनेक तथ्यो मे मतभेद है जिसे तन्त्रान्तर कहा है।
धरसेन	(षट्खण्डागम प्रवचनकर्त्ता)	ई सन् ७३, नदिसघ की प्राकृत-पट्टावली के अनुसार वी॰नि॰ स॰ ६१४ के बाद। जोणिपाहुड (योनिप्राभृत) आपकी रचना है, ऐसा उल्लेख मिलता है।
पुष्पदन्त	छक्खण्डागम (षट्खण्डागम के जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड की सत्प्ररूपणा पर्यन्त)	ई सन् १-२ शताब्दी। डॉ ज्योतिप्रसाद जैन ई सन् ५०-८०। नदिसघ की प्राकृतपट्टावली के अनुसार वी॰ नि॰ स॰ ६३३ के बाद। कार्यकाल ३० वर्ष। ये भूतबलि से ज्येष्ठ थे। भूतबलि के साथ आपने धरसेनाचार्य से षट्खण्डागम सीखा। षट्खण्डागम लिखने का प्रारम्भ किया परन्तु अल्पायु होने से पूरा न कर सके। बाद मे गुरु-भाई भूतबलि ने उसे पूरा किया।
भूतबलि	षट्खण्डागम	पुष्पदताचार्य सम-समयवर्ती। ई सन् ८७ के आसपास। पुष्पदत से छोटे थे। डा ज्योतिप्रसाद जैन ई सन् ६६-९०। डा हीरालाल जैन वी॰ नि॰ स॰ ६१४-६८३। इन्होने पुष्पदत की रचना को पूर्ण किया।
आर्यमक्षु और नागहस्ती	(श्रुतज्ञ और उपदेष्टा)	वि॰नि॰स॰ ७वी शताब्दी। श्वेताम्बर परम्परा में भी ये दोनो आचार्य मान्य हैं। वहाँ आर्यमक्षु को

१ वि स से ई सन् ५६ वर्ष पीछे है और वी नि स से ५२६ वर्ष पीछे है। आर्थात् ई. सन् मे ५६ वर्ष जोड़ने पर वि॰ स॰ और ५२६ वर्ष जोड़ने पर वी नि स आता है।

ग्रन्थकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
		वी.नि.स. ५वीं शताब्दी का तथा नागहस्ती को वी.नि.स. ७वीं शताब्दी का माना है। दोनो परम्पराओं में आर्यमंक्षु ज्येष्ठ हैं। दोनो क्षमाश्रमण तथा महावाचक पदों से विभूषित थे। जय-धवला में इन्हे आरातीय-परम्पराका ज्ञाता कहा है। चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ आर्यमक्षु के शिष्य थे और नागहस्ती के अन्तेवासी (सहपाठी)। इन्द्रनंदि के श्रुतावतार में इन्हे कसायपाहुड-कर्ता गुणधराचार्य का शिष्य कहा है। मगु और मंक्षु दोनो एकार्थक हैं। श्वे. परम्परा मे मगु नाम आया है।
कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि)	प्रवचनसार, समयसार पचास्तिकाय, नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा, अष्टपाहुड, रयणसार, दशभक्ति	ई सन् प्रथम शताब्दी। नाथूराम प्रेमी वी नि. स. ६८३ के बाद। डा देवेन्द्र कुमार गुणधराचार्य के आसपास। इनके समय के सम्बन्ध में कई मत हैं। आप युग-सस्थापक तथा श्रुतधराचार्यों मे प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थों के दो प्रमुख टीकाकार हैं— अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य। इनके जीवन की दो प्रमुख घटनाये हैं— विदेह क्षेत्र की यात्रा और गिरनार पर्वत पर श्वे के साथ हुए वादविवाद मे विजय। इनकी सभी रचनाये शौरसेनी प्राकृत मे हैं।
वज्रयश	—	यतिवृषभ (ई सन् १७६ के आसपास) से पूर्ववर्ती। तिलोयपण्णत्ति में उल्लेख आया है कि ये अंतिम प्रज्ञाश्रमण तथा ऋद्धिधारक थे।
चिरन्तनाचार्य	—	वप्पदेव (संभवत ५-६ शताब्दी) से पूर्ववर्ती। जयधवलाटीकामेंउल्लेख है। येव्याख्यानाचार्यथे।
यतिवृषभ	कसायपाहुड-चूर्णिसूत्र, तिलोयपण्णत्ति	ई. सन् १७६ के आसपास। कुन्दकुन्द अवश्य आपसे प्राचीन रहे हैं। इन्हे भूतबलि का सम-समयवर्ती या कुछ उत्तरवर्ती भी कहा गया है। धवला और जयधवला मे भूतबलि और यतिवृषभ के मतभेद की चर्चा आई है। तिलोयपण्णत्ति के वर्तमान संस्करण में कुछ ऐसी भी गाथायें हैं जो कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
		मे हैं। कुछ प्रक्षिप्त गाथायें भी हैं जो दूसरे के द्वारा लिखी गई हैं। प॰ हीरालाल के अनुसार कम्मपयडिचूर्णि भी आपकी रचना रही है।
उच्चारणाचार्य (व्याख्यानाचार्य)	——	ई सन् दूसरी-तीसरी शताब्दी। कसायपाहुड की जयधवला टीका मे अनेक स्थानों पर उल्लेख है। श्रुतपरम्परा मे उच्चारण की शुद्धता पर विशेष जोर देने के कारण उच्चारणाचार्यों की मौखिक परम्परा थी। इनका कथन पर्यायार्थिक नय की मुख्यत से और चूर्णिकार यतिवृषभ का कथन द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से है।
बप्पदेव	व्याख्याप्रज्ञप्ति	यतिवृषभ, आर्यमक्षु और नागहस्ती के समकालीन। धवलाकार वीरसेन स्वामी के समक्ष बप्पदेव की व्याख्याप्रज्ञप्ति थी। अत आप वीरसेन स्वामी (डा हीरालाल के मत से ई सन् ८१६) के पूर्ववर्ती हैं। आपने शुभनदी और रविनदि से आगम ग्रन्थो का अध्ययन किया था। इन्होने महाबन्ध को छोड़कर शेष पाच खण्डो पर व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक टीका लिखी। छठे खण्ड पर सक्षिप्त विवृत्ति लिखी। पश्चात् कषायप्राभृत पर भी टीका लिखी। 'धवला से यह भी ज्ञात होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति प्राकृतभाषारूप पुरातन व्याख्या है, बप्पदेव रचित नही।' ऐसा डा नेमिचन्द्र शास्त्री का मत है।
वट्टकेर	मूलाचार	कुन्दकुन्दाचार्य के समकालीन। मुनि- आचार का सुन्दर और विस्तृत वर्णन इन्होंने मूलाचार मे किया है। ये कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न हैं या अभिन्न, इसमें मतभेद है। श्री जुगलकिशोर मुख्तार तथा डा ज्योतिप्रसाद जैन अभिन्न मानते हैं। कहीं कहीं मूलाचार को कुन्दकुन्दकृत भी लिखा है। डा. हीरालाल जैन, प नाथूराम प्रेमी आदि ने इन्हे कुन्दकुन्द से भिन्न माना है। इसकी कई गाथाये

शास्त्रकार-आचार्य	ग्रन्थ	समय, परिचयादि
		श्वे. के दशवैकालिक सूत्र से मिलती-जुलती हैं। इसे संग्रहग्रन्थ भी कहा गया है। वसुनंदि (११वीं शताब्दी) की इस पर संस्कृत टीका है।
उमास्वामी (गृद्धपिच्छाचार्य)	तत्त्वार्थसूत्र	ई. सन् द्वितीय शताब्दी। कई इन्हें प्रथम शताब्दी का मानते हैं। संस्कृत के प्रथम जैनसूत्रकार हैं। श्वे. और दिग. दोनों परम्पराओं में मान्य हैं। श्वे. परम्परा में इन्हें उमास्वाति कहते हैं तथा स्वोपज्ञभाष्य सहित तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता मानते हैं। कुछ आचार्य तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता कुन्दकुन्द को मानते हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि संस्कृत टीकायें हैं। जैन-परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का वही महत्व है जो इस्लाम में कुरान का, ईसाई धर्म में बाईबिल का और हिन्दू धर्म में भगवद्गीता का है। इसमें द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग का सार समाहित है।
शिवार्य (शिवकोटि)	भगवती-आराधना	ई. सन् २-३ शताब्दी। ये यापनीय संघ के आचार्य हैं। यापनीय संघ श्वे. के सूत्र ग्रन्थों को मानता था। अतः इनकी बहुत सी गाथायें श्वे. से मिलती हैं। भगवती-आराधना मुनि-आचार विषयक महत्त्वपूर्ण रचना है। इस पर अपराजित सूरि (७-८ शता.) की विजयोदया संस्कृत-टीका है। शिवनंदि और शिवकोटि भी इनके नाम संभव हैं।
स्वामि कुमार (कार्तिकेय)	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	वि. सं. २-३ शताब्दी। आपने कुमारावस्था में ही संभवतः मुनि-दीक्षा ले ली थी। ये उमास्वामी के सम-समयवर्ती या कुछ उत्तरवर्ती रहे हैं। बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम और क्रम उमास्वामी की तरह हैं, मूलाचार, भगवती-आराधना तथा कुन्दकुन्द कृत द्वादशानुप्रेक्षा की तरह नहीं।

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
(ख) सारस्वताचार्य		
समन्तभद्र	आप्तमीमासा (देवागम स्तोत्र), बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, स्तुतिविद्या (जिनशतक), युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, जीवसिद्धि, प्राकृतव्याकरण, आदि।	ई सन् द्वितीय शताब्दी। नाथूराम प्रेमी छठी शता०। इनकी समता श्रुतधराचार्यों से की जा सकती है। प्रकाण्ड दार्शनिक और गम्भीर चिन्तक थे। सस्कृत के प्रथम जैन कवि। आपको भस्मक-व्याधि हो गई थी जो चन्द्रप्रभु की स्तुति से शान्त हुई थी तथा एक प्रभावक घटना भी घटी थी। अन्य रचनाये तत्वानुशासन, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका, गन्धहस्तिमहाभाष्य।
विमलसूरि	पउमचरिय	ई० सन् चौथी शताब्दी। कुछ विद्वान् दूसरी शताब्दी भी मानते हैं। ये यापनीय सघ के थे। प्राकृत भाषा मे चरित-काव्य के प्रथम जैन कवि हैं। हरिवशचरिय भी आपकी रचना है ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं।
सिद्धसेन (सिद्धसेन दिवाकर)	सन्मतितर्क (सन्मतिसूत्र या सन्मति-प्रकरण), कल्याणमन्दिरस्तोत्र	वि स ६२५ के आसपास। समय के सम्बन्ध मे मतभेद (१ से ८ वीं शता०)। श्वे. और दिग० दोनो को मान्य हैं। ये सेनगण के आचार्य थे। समन्तभद्र से परवर्ती और पूज्यपाद से पूर्ववर्ती या समसामयिक रहे हैं। सिद्धसेन नाम के कई विद्वान् हुए हैं। श्वे. मे 'दिवाकर' विशेषण मिलता है। प० जुगलकिशोर मुख्तार ने कुछ द्वात्रिंशिकाओ एव न्यायावतार (श्वे मे मान्य) के कर्ता सिद्धसेन को सन्मतितर्क के कर्ता से भिन्न माना है। ये प्रसिद्ध कवि और दार्शनिक (वादिगजकेसरी) थे। सन्मतिसूत्र प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध जैन न्याय का अनूठा ग्रन्थ है। इसमे तीन काण्ड हैं।
देवनन्दि पूज्यपाद	सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति), समाधितन्त्र (समाधिशतक),	ई सन् छठी शताब्दी। कवि, वैयाकरण और दार्शनिक थे। अन्य रचनाये हैं— इष्टोपदेश, दशभक्ति, जन्माभिषेक, सिद्धि-प्रियस्तोत्र, जैनेन्द्रव्याकरण।

ग्रन्थकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
पात्रकेसरी (पात्रस्वामी)	त्रिलक्षणकदर्थन (अप्राप्त), पात्रकेसरीस्तोत्र (जिनेन्द्रगुण-संस्तुति)	वि. सं. छठी शताब्दी उत्तरार्ध। आप कवि और दार्शनिक थे। इनका जन्म उच्च ब्राह्मण कुल मे हुआ था। ये पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के चैत्यालय मे प्रतिदिन जाया करते थे।
जोइन्दु (योगीन्दु)	परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), योगसार (अपभ्रश), तत्त्वार्थटीका (सं.), सुभाषिततन्त्र (सं.) आदि	ई. सन् छठी का उत्तरार्ध। पूज्यपाद के बाद। अध्यात्मवेत्ता आचार्य थे। अन्य रचनायें-- नौकारश्रावकाचार (अपभ्रश), अध्यात्म-सदोह (सस्कृत), दोहापाहुड (अपभ्रश), अमृताशीती (स.), निजात्माष्टक (प्राकृत)।
ऋषिपुत्र	ऋषिपुत्रनिमित्तशास्त्र	ई सन् ४-७ शताब्दी। प्रसिद्ध ज्योतिषवेत्ता थे।
मानतुङ्ग	भक्तामरस्तोत्र	ई. सन् ७वी शताब्दी। श्वे और दिग. दोनो मे मान्य। भक्तामरस्तोत्र इतना प्रसिद्ध हुआ कि इसके एक-एक चरण को लेकर समस्यापूर्तिरूप कई स्तोत्र-काव्य लिखे गए।
रविषेण	पद्मचरित (पद्मपुराण)	वि.स. ८४० से पूर्व। पौराणिक चरित-काव्यकार।
जटासिंहनन्दि	वराङ्गचरित	सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध। पुराण-महाकाव्यकार। दाक्षिणात्य कवि। सभवत अन्य रचनायें भी थीं।
अकलङ्कदेव	लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञ वृत्तिसहित), न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित), सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति), तत्त्वार्थवार्तिक = राजवार्तिक (सभाष्य) अष्टशती (देवागम-विवृति), प्रमाणसंग्रह (सवृत्ति)	सातवी शती उत्तरार्ध। समय-सम्बन्धी तीन मत-- १ डा. पाठक का मत (ई ७७८), २ जुगलकिशोर आदि (ई ६४३) और ३. प. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य (ई. ८वीं शती)। ये जैन न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। शैली तार्किक एवं गूढ है परन्तु मार्मिक व्यङ्ग्य के प्रसङ्गों में सरस शैली है। बौद्धदर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति का है वही स्थान जैनदर्शन में अकलंक देव का है। इनकी ब्रह्मचर्यव्रत लेने की घटना अपूर्व थी।

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
एलाचार्य	—	ई० ८-९वी शताब्दी। वीरसेन (धवला, जयधवला टीकाकार) के विद्यागुरु थे। वीरसेन के समकालीन या कुछ पूर्ववर्ती। सिद्धान्तशास्त्र मर्मज्ञ थे।
वीरसेन	धवला (षट्खण्डागम टीका), जयधवला (कषायपाहुड टीका। बीस हजार श्लोकप्रमाण मात्र)	ई० सन् ८१६। एलाचार्य के शिष्य जिनसेन प्रथम ने अपने हरिवंशपुराण मे इन्हे 'कवि-चक्रवर्ती' लिखा है। गणित, न्याय, ज्योतिष, व्याकरण आदि के ज्ञाता थे। भट्टारकपदवी-धारक तथा केवली के समान समस्त विद्याओ के पारगामी। टीकायें प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित भाषा मे है। जयधवला २० हजार श्लोक प्रमाण तक ही लिख पाए पश्चात् मृत्यु होने पर जिनसेन द्वितीय ने उसे पूरा किया।
जिनसेन द्वितीय	पार्श्वाभ्युदय (समस्यापूर्तिकाव्य), आदिपुराण (४२ पर्व तक), जयधवला टीका (बीस हजार श्लोक प्रमाण के बाद)	ई सन् नौवी शती। इन्होने वीरसेन की जयधवलाटीका को पूरा किया और इनके आदिपुराण को (इनकी मृत्यु हो जाने पर) इनके शिष्य गुणभद्र ने शेष ५ पर्व और लिखकर पूरा किया। सम्पूर्ण रचना महापुराण के नाम से प्रसिद्ध है। प्रबुद्धाचार्य गुणभद्र (ई १० शताब्दी) की रचना को उत्तरपुराण कहते हैं।
विद्यानन्द	आप्तपरीक्षा (सवृत्ति), प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासन परीक्षा, विद्यानन्द महोदय, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (सभाष्य),	ई सन् नौवी शताब्दी। दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। इनके सभी ग्रन्थ दर्शनशास्त्र के प्रामाणिक तथा प्रौढ़ ग्रन्थ हैं। अंतिम तीन रचनाये क्रमशः निम्न ग्रन्थो की टीकाये है—तत्त्वार्थसूत्र, आप्तमीमासा, युक्त्यनुशासनस्तोत्र। राजावलीकथे मे जिस विद्यानन्दि का जीवनवृत्त आया है वे इनसे भिन्न परम्परापोषकाचार्य हैं। प्रौढ़ पाण्डित्य था। किंवदन्तियो के अनुसार इनका

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
	अष्टसहस्री (देवागमालङ्कार), युक्त्यनुशासनालङ्कार	जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनकी अष्टसहस्री जैनन्याय मे अद्भुत ग्रन्थ है। इसे कष्टसहस्री भी कहा है।
देवसेन	दर्शनसार, भावसग्रह, आराधनासार, तत्त्वसार, लघुनयचक्र, आलापपद्धति	वि स ९९०-१०१२। भावसंग्रह इनकी रचना है या नही, मतभेद है। आलापपद्धति संस्कृतगद्यमयी रचना है, शेष रचनाये प्राकृत में हैं। दर्शनसार में इन्हे देवसेनगणि, तत्त्वसार में मुनिनाथ देवसेन तथा आराधनासार मे देवसेन लिखा है।
अमितगति (प्रथम)	योगसारप्राभृत	वि स १०००। ये नेमिषेण के गुरु और देवसेन के शिष्य थे।
अमितगति (द्वितीय)	सुभाषितरत्नसदोह, धर्मपरीक्षा, उपासकाचार, (अमितगति-श्रावकाचार), पञ्चसग्रह (संस्कृत), प्राकृतपचसग्रह, आदि	वि स १२ वीं शताब्दी। माथुरसघ के आचार्य। ये माधवसेन के शिष्य तथा नेमिषेण के प्रशिष्य हैं। धर्मपरीक्षा सस्कृत मे व्यङ्ग्यप्रधान उत्कृष्ट रचना है। अन्य रचनाये— लघु एव बृहत् सामायिक पाठ, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयद्वीप-प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति ,व्याख्याप्रज्ञप्ति, आराधना और भावना-द्वात्रिंशतिका।
अमृतचन्द्रसूरि	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्रावकाचार), तत्त्वार्थसार, समयसारकलश, समयसारटीका (आत्मख्याति), प्रवचनसारटीका (तत्त्वप्रदीपिका) पचास्तिकायटीका (तत्त्वदीपिका)	ई सन् १०वीं शती। पट्टावली में इनके पट्टारोहण का समय वि सं ९६२ दिया है। प आशाधर जी (वि सं. १३००) ने आपका उल्लेख किया है। कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों का रहस्य इनकी व्याख्या के बिना जानना कठिन था। ये मूल सघ के आचार्य थे और आध्यात्मिक विद्वान् थे। टीकाकारों में आपका वही स्थान है जो कालिदास कवि के टीकाकार मल्लिनाथ का है। विद्वत्ता अद्भुत थी।

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
नेमिचन्द्र (सिद्धान्तचक्रवर्ती)	गोम्मटसार (जीव-काण्ड और कर्मकाण्ड), त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार	ई० सन् १०वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध। अभयनंदि, वीरनदि और इन्द्रनदि गुरु थे। श्रवणबेलगोला मे विंध्यगिरि पर भगवान् गोम्मटेश्वर (चामुण्डराय का देवता) बाहुबलि की प्रतिमा के प्रतिष्ठापक चामुण्डराय (गगवशी राजा राचमल्ल के प्रधानमत्री एव सेनापति) आपके शिष्य थे। देशीयगण के आचार्य थे। धवला और जयधवला का सार क्रमश गोम्मटसार और लब्धिसार मे सग्रहीत है। सिद्धान्तचक्रवर्ती अपकी उपाधि थी।
नरेन्द्रसेन	सिद्धान्तसारसग्रह	वि स १२वी शताब्दी। ये धर्मरत्नाकर के कर्ता जयसेन के वशज थे। सिद्धान्तसारसग्रह अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार की शैली मे लिखा गया ग्रन्थ है।
नेमिचन्द्र मुनि (सिद्धान्तिदेव)	लघुद्रव्यसग्रह, बृहद्द्रव्यसग्रह (द्रव्यसग्रह या लघुपचास्तिकाय)	वि स ११२५ के आसपास। बृहद्द्रव्यसग्रह के सस्कृत टीकाकार हैं ब्रह्मदेव। डा दरबारीलाल कोठिया ने निम्न चार नेमिचन्द्र गिनाए हैं—१ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (गोम्मटसारकर्ता), २ वसुनदि सिद्धान्तिदेव के उपासकाध्ययन मे उल्लिखित नेमिचन्द्र, ३ गोम्मटसार पर जीव-तत्त्वप्रदीपिका सस्कृत टीका के कर्त्ता और ४ द्रव्यसग्रहकार।

सिहनदि आदि[1]

(ग) प्रबुद्धाचार्य

जिनसेन प्रथम	हरिवश पुराण	ई. सन् ७८३। अपूर्वकाव्यप्रतिभा।
गुणभद्र	आदिपुराण	ई सन ९वी शता का अतिम चरण। अपने

१ अन्य चर्चित सारस्वताचार्य— सिंहनन्दि (ई सन् २ री शता। गगराज वश की स्थापना मे सहायक। राजनीतिज्ञ और आगमवेत्ता), सुमतिदेव (सन्मतिटीकाकार, ८वीं शता के आसपास,), कुमारनंदि (वादन्यायकार, सभवत वि. स. ८वीं शता, विद्यानद से पूर्ववर्ती), श्रीदत्त (जल्पनिर्णयकार, वि स. ४-५ शता, विद्यानद के अनुसार ६३ वादियो के विजेता), कुमारसेन गुरु (काष्ठासंघ सस्थापक, वि. स ८वीं शता.), वज्रसूरि (द्राविड़सघसंस्थापक, सभवत देवनदि पूज्यपाद के शिष्य, छठी शता. के लगभग), यशोभद्र (तार्किक, सभवत वि स छठी शता के पूर्व), शान्त या शान्तिषेण (वक्रोक्तिपूर्ण

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
	(४३वें पर्व के चौथे पद्य के बाद समाप्ति पर्यन्त), उत्तरपुराण, आत्मानुशासन, जिनदत्तचरितकाव्य	गुरु जिनसेन द्वितीय के अधूरे आदिपुराण को पूरा किया। सम्भवत ये सेनसघ के आचार्य थे। दक्षिण में कर्नाटक या महाराष्ट्र इनकी साधनाभूमि थी। सरलता और सरसता इनकी रचनाओ मे समाहित है।
शाकटायन पाल्यकीर्ति	स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति	ई सन् १०२५ के पूर्व। अन्य रचना— अमोघवृत्ति सहित शाकटायन शब्दानुशासन (व्याकरण)।
वादीभसिंह	छत्रचूडामणि, गद्यचिन्तामणि	९वी शता.। जैन सस्कृत गद्य साहित्यकार। 'स्याद्वादसिद्धि' इनकी रचना है या अजितसेन की है, इसमे विवाद है
महावीराचार्य	गणितसारसग्रह,	ई ९वी शता.। जैनगणितज्ञ। इनकी एक रचना ज्योतिषपटल (अप्राप्त) भी है।
बृहद् अनन्तवीर्य	सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रमाणसग्रहभाष्य (प्रमाणसंग्रहालङ्कार)	ई सन् ९७५-१०२५। रविभद्र के शिष्य थे। ये न्यायशास्त्र के पारगत विद्वान् थे। इनके नाम वाले कई विद्वान् हुए हैं।
माणिक्यनन्दि	परीक्षामुख	ई सन् ११वी शता. प्रथम चरण। नदीसघ के प्रमुख आचार्य। आद्य जैनन्याय सूत्रकार। परीक्षामुख पर कई टीकाये हैं— प्रभाचन्द्रकृत-प्रमेयकमलमर्तण्ड, लघु अनन्तवीर्यकृत प्रमेयरत्नमाला, भट्टारक चारुकीर्तिकृत प्रमेय-रत्नमालालङ्कार, शान्तिवर्णिकृत प्रमेयकण्ठिका।
प्रभाचन्द्र	प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुख टीका),	ई. सन् ११वीं शता.। समय के विषय मे मदभेद है। कई प्रभाचन्द्र हुए है। अन्य रचनाये हैं–

रचना करने में समर्थ, सभवतः ७वीं शता), **विशेषवादि** (जिनसेन के हरिवशपुराण और पार्श्वनाथचरित में उल्लेख), **श्रीपाल** (वि स ९वी शता., वीरसेन स्वामी के शिष्य), **काणभिक्षु** (जिनसेन ने कथाग्रन्थकार के रूप मे उल्लेख किया है), **कनकनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती** (विस्तरसत्त्व-त्रिभंगीकार, ई. सन् १० वी शता.)।

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय टीका), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि-टीका), क्रियाकलापटीका	शाकटायन-न्यास (शाकटायन व्याकरण टीका), शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्र व्याकरण टीका), प्रवचनसार-सरोजभास्कर (प्रवचनसार टीका), गद्यकथाकोष, आत्मानुशासनटीका, महापुराण टिप्पण, रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका, समाधितन्त्र टीका। जुगल किशोर मुख्तार अंतिम दो को अन्य प्रभाचन्द्रकृत मानते हैं।
लघु अनन्तवीर्य	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुख टीका)	वि स १२ वी शता॰ पूर्वार्द्ध। जैनन्याय ग्रन्थकार।
वीरनन्दि	चन्द्रप्रभचरित-महाकाव्य	ई सन् ९५०-९९९। मनोभावो का सजीव चित्रण करने मे सिद्धहस्त महाकवि।
महासेनाचार्य	प्रद्युम्नचरित-महाकाव्य	ई सन् १० वी शता॰ उत्तरार्ध। लाटवर्गट सघ के आचार्य। यह काष्ठासघ की शाखा है।
हरिषेण	बृहत् कथाकोश	ई ९३१। इस नाम के कई आचार्य है।
सोमदेव सूरि	नीतिवाक्यामृत, यशस्तिलकचम्पू, अध्यात्मतरगिणी (योगमार्ग)	ई ९५९। तार्किक, राजनीतिज्ञ, धर्माचार्य तथा साहित्यकार। इनका यशस्तिलकचम्पू मध्यकालीन भारतीय सस्कृति के इतिहास का अपूर्व स्रोत है।
वादिराज	पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, एकीभावस्तोत्र, न्यायविनिश्चय-विवरण, प्रमाणनिर्णय	ई सन् ११वी शता॰। इनका कुष्ठ रोग एकीभाव स्तोत्र से दूर हो गया था, ऐसा उल्लेख मिलता है। द्रविड़ (द्रमिल) सघ के आचार्य थे। दार्शनिक, वादिविजेता और महाकवि थे। इनकी षट्तर्कषण्मुख आदि उपाधियाँ थी।
पद्मनंदि प्रथम	जबूद्वीवपण्णत्ति, धम्मरसायण, प्राकृतपचसग्रहवृत्ति	ई सन् १०वी शता॰। इस नाम के कई आचार्यों के उल्लेख हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का भी एक नाम पद्मनदि मिलता है। ये सिद्धान्त-शास्त्रज्ञ थे।
पद्मनंदि द्वितीय	पद्मनदि पचविंशतिका	ई सन् ११वी शता॰। लोकप्रिय रचना रही है जिसमे २६ विषय हैं।

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
जयसेन प्रथम	धर्मरत्नाकर	वि स. १०५५। लाडबागड संघ के थे।
जयसेन द्वितीय	समयसार टीका, प्रवचनसार टीका, पचास्तिकाय टीका	ई. ११-१२ शता.। इन टीकाओ का नाम है 'तात्पर्यवृत्ति'। शैली और अर्थ की दृष्टि से ये टीकाये अमृतचन्द्राचार्य से भिन्न हैं।
पद्मप्रभ मलधारिदेव	नियमसार-तात्पर्यवृत्तिटीका, पार्श्वनाथस्तोत्र	ई १२ वी शता.। प. नाथूराम प्रेमी इन्हे पचविंशति के कर्ता पद्मनदि से अभिन्न मानते है।
शुभचन्द्र	ज्ञानार्णव (योगप्रदीप)	वि स ११ वी शता.। इस नाम के कई आचार्य है।
अनन्तकीर्ति	सर्वज्ञसिद्धि (बृहत् और लघु)	ई ९वी शता. उत्तरार्ध। कई आचार्य हैं।
मल्लिषेण	नागकुमारकाव्य, महापुराण, भैरवपद्मावतीकल्प	ई ११वी शता.। कवि और मन्त्रवादी। उभय-भाषाकविचक्रवर्ती थे। अन्य रचनाये— सरस्वतीमन्त्रकल्प, ज्वालिनीकल्प, कामचाण्डालीकल्प।
इन्द्रनन्दि प्रथम	ज्वालमालिनीकल्प	ई १० वी शता. पूर्वार्द्ध। मन्त्रशास्त्रज्ञ। इस नाम के कई आचार्य हैं।
जिनचन्द्र	सिद्धान्तसार	ई ११-१२ शता.। सिद्धान्तसार पर ज्ञानभूषण का भाष्य है।
श्रीधर	गणितसार (त्रिंशतिका), ज्योतिर्ज्ञानविधि, बीजगणित	ई ८-९ शता. सभावित है। कई विद्वान् हैं। ज्योतिष और गणित के विद्वान्। अन्य रचना है— जातकतिलक (कन्नड मे)।
दुर्गदेव	रिष्टसमुच्चय, अर्घकाण्ड, मरणकण्डिका, मन्त्रमहोदधि	ई सन् ११वीं शता.। श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य मे इस नाम के तीन आचार्यों का उल्लेख है। आगम और तर्कशास्त्र के भी ज्ञाता थे।
मुनि पद्मकीर्ति	पासणाहचरिउ	शक सं ९९९। जिनसेन गुरु थे।
इन्द्रनन्दि द्वितीय	छेदपिण्ड	ई ११वी शता.। कई आचार्य है। एक श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनंदि हैं।

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
वसुनदि प्रथम	प्रतिष्ठासारसग्रह, उपासकाचार (श्रावकाचार), मूलाचार-आचारवृत्ति	ई ११-१२वी शता.। कई आचार्य हैं। आप्तमीमासावृत्ति और जिनशतक-टीका अन्य वसुनदि की हैं। उपसकाचार (उपासकाध्ययन) में कई नए तथ्यो का समावेश है।
रामसेन	तत्त्वानुशासन	ई सन् ११वी उत्तरार्ध। सेनगण के आचार्य। कई रामसेन हुए हैं।
गणधरकीर्ति	अध्यात्मतरगिणी	वि स ११८९। गुजरातप्रदेशवासी।
भट्टवोसरि	आयज्ञान (स्वोपज्ञ सस्कृत आयश्री टीका सहित)	ई ११वी शता० उत्तरार्ध। ज्योतिष और निमित्त शास्त्र के वेत्ता। ये दामनन्दि के शिष्य थे।
उग्रादित्य	कल्याणकारक	वि स ७४९ के बाद। आयुर्वेदवेत्ता।
भावसेन त्रैविद्य	प्रमाप्रमेय, सिद्धान्तसार, न्यायदीपिका (धर्मभूषण से भिन्न), विश्वतत्त्व-प्रकाश	ई १२वी शता० मध्य। मूलसघ सेनगण। दो अन्य आचार्य थे। अन्य ग्रन्थ— शाकटायन व्याकरणटीका, कातन्त्ररूपमाला, न्यायसूर्यावलि, भुक्तिमुक्तिविचार, सप्तपदार्थी टीका।
नयसेन	धर्मामृत, कन्नड-व्याकरण	ई १२वी शता० पूर्वार्ध। धर्मामृत मे कथा के माध्यम से धर्म का महत्त्व है।
वीरनदि (सिद्धान्तचक्रवर्ती)	आचारसार	ई १२वी शता० मध्य। ये मेघचन्द्र- शिष्य थे। मूलसघ पुस्तकगच्छ और देशीयगण के थे। चन्द्रप्रभचरितकर्ता वीरनदि (अभयनदिशिष्य) से ये भिन्न हैं।
श्रुतमुनि	परमागमसार, आस्रवत्रिभङ्गी, भावत्रिभगी	ई १३ शता० उत्तरार्ध। डा. ज्योति-भूषण ने सत्रह श्रुतमुनि गिनाए है। गोम्मटसार का प्रभाव है।
हस्तिमल्ल	विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, अञ्जनापवनञ्जय, सुभद्रानाटिका, आदिपुराण, आदि	ई ११६१-११८१। प्रसिद्ध दिगम्बर जैन सस्कृत नाट्यकार। ये प्रारम्भ मे वत्स्यगोत्रीय दक्षिणभारतीय ब्राह्मण थे। अन्य रचनायें भी हैं। ये सेनसघ के आचार्य रहे हैं।

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
माघनंदि	शास्त्रसारसमुच्चय	ई. १२वीं शता. उत्तरार्ध। इस नाम के तेरह आचार्य है।
वज्रनन्दि	नवस्तोत्र	पूज्यपाद से परवर्ती। मल्लिषेण प्रशस्ति मे उल्लेख है।
महासेन द्वितीय	सुलोचना कथा	ई ८-९ शता.। जिनसेन प्रथम के हरिवश पुराण मे उल्लेख है।
सुमतिदेव	सुमतिसप्तक	७-८ शता। मल्लिषेणप्रशस्ति मे उल्लेख है।
पद्मसिंह मुनि	ज्ञानसार	वि स १०८६। प्राकृत भाषाविज्ञ।
माधवचन्द्र त्रैविद्य	त्रिलोकसार सस्कृत टीका	ई सन् ९७५-१०००। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के शिष्य। इस नाम के १०-११ विद्वानो के उल्लेख हैं।
नयनन्दि	सुदसणचरिउ, सयलविहि विहाण-कव्व	वि स ११-१२ शताब्दी।

(घ) परम्परा-पोषकाचार्य[1]

बृहद् प्रभाचन्द्र	तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामी से भिन्न)	समय अज्ञात। 'अर्हद्-प्रवचन' भी प्रभाचन्द्र के नाम से मिलता है। ये प्रमेयकमलमार्त्तण्डकार से भिन्न है।

---

१ अन्य परम्परा-पोषकाचार्य—

भट्टारक पद्मनंदि (श्रावकाचार-सारोद्धार, वर्धमानचरित आदि), भट्टारकसकलकीर्ति (शान्तिनाथ चरित, समाधिमरणोत्साह-दीपक आदि ३७ ग्रन्थ), भट्टारक भुवनकीर्ति (जीवन्धररास आदि), ब्रह्मजिनदास (जम्बूस्वामिचरित आदि ६५ ग्रन्थ), सोमकीर्ति (प्रद्युम्नचरित आदि ८ ग्रन्थ), ज्ञानभूषण (तत्त्वज्ञानतरगिणी आदि १६ ग्रन्थ), भट्टारक विजयकीर्ति (धर्मप्रचारक), भट्टारक विद्यानंदि (सुदर्शन चरित), भट्टारक मल्लिभूषण (धर्मप्रचारक), वीरचन्द्र (वीरविलासफाग आदि), सुमतिकीर्ति (कर्मकाण्डटीका, पंचसंग्रह टीका आदि), भट्टारक जिनचन्द्र (सिद्धान्तसार, जिनचतुर्विंशतिस्तोत्र), भट्टारक प्रभाचन्द्र (ग्रन्थजीर्णोद्धारक), भट्टारक जिनसेन द्वितीय (नेमिनाथरास), ब्रह्मजीवन्धर (गुणस्थानवेलि आदि १२ ग्रन्थ), यशःकीर्ति (पाण्डवपुराण आदि), शुभकीर्ति (शान्तिनाथ चरित), गुणचन्द्र (अनन्तनाथ पूजा आदि), ललितकीर्ति, श्रुतकीर्ति (हरिवंशपुराण आदि), धर्मकीर्ति भट्टारक (पद्मपुराण, हरिवश पुराण), रत्नकीर्ति या

शास्त्रकार-आचार्य	*शास्त्र*	*समय, परिचयादि*
पार्श्वदेव	संगीत समयसार	१२ वी शताब्दि अन्तिम चरण।
भास्करनंदि	तत्त्वार्थसूत्र वृत्ति (सुखबोधाटीका), ध्यानस्तव	वि स १६ वी शता.। नवीन सिद्धान्तो की स्थापना की है।
ब्रह्मदेव	बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, परमार्थ-प्रकाशटीका	ई १२वी शता.। अन्य रचनायें— तत्त्वदीपक, प्रतिष्ठातिलक, ज्ञानदीपक, विवाहपटल, कथाकोष।
रविचन्द्र	आराधनासार-समुच्चय	ई १२-१३वी शता। इस नाम के अन्य आचार्य भी हैं।
अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	कर्मप्रकृति	ई १३ वीं शता। मुख्तार साहब इन्हे गोम्मटसार जीवकाण्ड की मन्दप्रबोधिनी टीका का कर्ता भी मानते है।
भट्टारक अभिनव धर्मभूषण यति	न्यायदीपिका	ई सन् १३५८-१४१८। इस नाम के कई आचार्य हुए हैं।
भट्टारक वर्द्धमान (प्रथम)	वरागचरित	ई सन् १४ वी शताब्दी।
भट्टारक शुभचन्द्र	चन्द्रप्रभचरित, पाण्डवपुराण करकण्डुचरित, आदि	वि स १५३५-१६२०। ज्ञान के सागर थे। इनके ३१ ग्रन्थ हैं। सस्कृत और हिन्दी दोनो मे रचनाये हैं।
श्रुतसागर सूरि	यशस्तिलक चन्द्रिका, तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुत-सागरीटीका)	वि स १६ वी शता। ये न केवल परम्परापोषक थे अपितु मौलिक सिद्धान्तो के सस्थापक भी थे। इनके ३८ ग्रन्थ हैं।
ब्रह्मनेमिदत्त	आराधनाकथाकोश, नेमिनिर्वाण काव्य	वि १६ वी शताब्दी। इनके १२ ग्रन्थ है।

रत्ननंदि (भद्रबाहुचरित), **श्रीभूषण** (शान्तिनाथपुराण आदि), **भट्टारक सकलकीर्ति** (पार्श्वनाथपुराण आदि १० ग्रन्थ), **ब्रह्म ज्ञानसागर** (तेरह ग्रन्थ), **सोमसेन** (रामपुराण, शब्दरत्नप्रदीप), **छत्रसेन** (द्रौपदीहरण आदि), **वर्द्धमान द्वितीय** (दशभक्त्यादिमहाशास्त्र), **गंगादास** (श्रुतस्कन्ध कथा आदि), **देवेन्द्रकीर्ति** (दो पूजा ग्रन्थ), **जिनसागर** (आदित्यव्रत कथा आदि), **सुरेन्द्रभूषण** (ऋषिपंचमी कथा), **महेन्द्रसेन** (सीताहरण, बारहमासा), **सुरेन्द्रकीर्ति** (एकीभाव, कल्याणमन्दिर आदि), **ललितकीर्ति भट्टारक** (महापुराण की टीका आदि)।

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
टीकाकार नेमिचन्द्र	जीवतत्त्वप्रदीपिका (गोम्मटसारटीका)	ई. सन् १६ वी शता.। महत्त्वपूर्ण टीका है।
मुनि महनंदि	पाहुडदोहा	वि. सं. १६ वी शता उत्तरार्ध।
नरेन्द्रसेन	प्रमाणप्रमेय-कलिका	ई सन् १७३०-१७३३।

(ङ) आचार्यतुल्य काव्यकार एवं लेखक[1]

कवि परमेष्ठी (परमेश्वर)	पुराण (त्रिषष्ठिशलाका)	९ वी शताब्दी से पूर्व।
धनञ्जय	नाममाला (धनञ्जय-निघण्टु), विषापहारस्तोत्र, द्विसन्धानमहाकाव्य	ई सन् ८वीं शता । समय-सम्बन्धी मतभेद है। कहा जाता है इनके पुत्र को सर्प ने डस लिया था जिसका विष दूर करने के लिए विषापहार स्तोत्र लिखा। द्विसन्धान मे राम और कृष्ण का एक साथ चित्रण है।

---

१ अन्य कवि और लेखक (संस्कृत के)—

अजितसेन (शृङ्गारमजरी, अलकार-चिन्तामणि), विजयवर्णी (शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका), पद्मनाभ कायस्थ, ज्ञानकीर्ति, धर्मधर, गुणभद्र-द्वितीय, श्रीधरसेन, नागदेव (मदनपराजय), पं. वामदेव (भावसग्रह आदि), पं. मेधावी, रामचन्द्र-मुमुक्षु (पुण्यास्रवकथाकोश), वादिचन्द्र (ज्ञानसूर्योदयनाटक आदि), दोड्डय्य (भुजबलिचरित), पद्मसुन्दर (भविष्यदत्तचरित, रायमल्लाभ्युदय), पं. जिनदास (होलिकारेणुचरित), अरुणमणि (अजितपुराण), जगन्नाथ (श्वेताम्बर-पराजय आदि)।

(अपभ्रंश के)— चतुर्मुख, स्वयम्भु (पउमचरिउ आदि), पुष्पदंत (महापुराण, णायकुमार-चरिउ आदि), धनपाल (भविसयत्तकहा), धवल (हरिवशपुराण), हरिषेण (धर्मपरीक्षा), वीर (जम्बुस्वामिचरिउ), श्रीचन्द्र, रइधू (३७ रचनाये), तारणस्वामी (मालारोहण आदि १४ ग्रन्थ)।

(हिन्दी के)— बनारसीदास (समयसारनाटक आदि), भूधरदास (पार्श्वपुराण, जिनशतक), द्यानतराय, आचार्यकल्प पं. टोडरमल (मोक्षमार्गप्रकाशक आदि ११ ग्रन्थ), तनसुखदास, पं. दौलतराम कासलीवाल, पं. जयचन्द्र छाबड़ा, बुधजन, वृन्दावनदास आदि।

इनके अतिरिक्त आदिपम्प पोन्न आदि कन्नड कवि, तिरुत्तक्कतेवर आदि तमिल कवि, जिनदास आदि मराठी कवि हैं।

शास्त्रकार-आचार्य	शास्त्र	समय, परिचयादि
असग	वर्द्धमान चरित, शान्तिनाथ चरित	ई सन् १० वीं शताब्दी। व्याकरण तथा काव्य के ज्ञाता थे।
हरिचन्द्र	धर्मशर्माभ्युदय, जीवन्धरचम्पू	ई सन् १० वी शताब्दी। दोनो काव्य उत्तम कोटि के हैं।
वाग्भट्ट प्रथम	नेमिनिर्वाणकाव्य	ई १०७५-११२५। वाग्भट्ट कई हुए हैं।
चामुण्डराय	चारित्रसार, चामुण्डरायपुराण (त्रिषष्ठी-लक्षण महापुराण)	ई सन् १० वी शता। इन्होने श्रवणबेलगोला मे बाहुबलिस्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा ई सन् ९८१ मे कराई थी।
अभिनव वाग्भट्ट	काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, आदि	वि स १४ वी शता। इनके अन्य ग्रन्थ भी हैं।
आशाधर	धर्मामृत (सागार और अनगार)	वि १३ वी शता। इनकी बीस रचनाये हैं।
अर्हद्दास	मुनिसुव्रतकाव्य, पुरुदेवचम्पू	वि १४ वी शता। अन्य रचना—भव्यजनकण्ठाभरण
राजमल्ल	लाटीसहिता, जम्बूस्वामीचरित, अध्यात्मकमल-मार्त्तण्ड, पचाध्यायी (अपूर्ण), पिङ्गलशास्त्र	वि १७वी शता। पचाध्यायी का द्वितीय अध्याय भी अपूर्ण ही है परन्तु जैनसिद्धान्तो के हृदय-ङ्गम करने के लिए बहुत उपयोगी है। लाटीसहिता मे श्रावकाचार है। ये काष्ठासघी विद्वान् थे। कई नए सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं।
अभिनव चारुकीर्ति पण्डिताचार्य	प्रमेयरत्नालकार, गीत-वीतराग	ई १६वी शता। प्रमेयरत्नमाला की प्रमेयरत्नालकार टीका है।
दौलतराम द्वितीय	छहढाला	वि स १८५५-५६ के मध्य।

द्वितीय परिशिष्ट : संकेताक्षर और सहायक ग्रन्थ-सूची

संकेताक्षर[1]	ग्रन्थ	प्रकाशन
अन॰ध॰	अनगारधर्मामृत	पं॰ आशाधर, शोलापुर, ई॰ १९२७
—	अमितगति श्रावकाचार	दि॰ जैन पुस्तकालय, सूरत, वि॰स॰ २४८४
—	अष्टसहस्री	आ॰ विद्यानन्द, दि॰ जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, ई॰ १९७२
आ॰अनु॰	आत्मानुशासन	गुणभद्र, सनातन जैन ग्रन्थमाला, ई॰ १९०५
आप्त॰प॰	आप्तपरीक्षा	आ॰ विद्यानन्द, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, वि॰स॰ २००६
आ॰मी॰	आप्तमीमांसा (देवागम)	समन्तभद्राचार्य, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, ई॰ १९६७
—	आस्पेक्ट ऑफ जैनोलाजी	ग्रन्थाङ्क ३, पा॰वि॰शोध संस्थान, वाराणसी, ई॰ १९९१
—	इष्टोपदेश	वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली
—	एकीभावस्तोत्र	ज्ञानपीठपूजाञ्जलि, वाराणसी, १९५७
क॰पा॰	कसायपाहुड	गुणधराचार्य, जयधवलाटीका सहित, दि॰ जैन संघ, मथुरा, वि॰स॰ २०००
का॰आ॰	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	राजचन्द्र ग्रन्थमाला, ई॰ १९६० सामायिक दण्डकी टीकासहित
—	क्रियाकलाप	पन्नालाल सोनी, आगरा, वि॰सं॰ १९९३
—	क्रियाकोश	प॰ दौलतराम
क्षपणा	क्षपणासार	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
—	गुणभद्र श्रावकाचार	श्रावकाचार संग्रह, भाग १
गो॰ क॰	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती, जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
गो॰कर्म॰	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	जैन सि॰प्र॰संस्था, कलकत्ता
गो॰ क॰/ जी॰प्र॰	जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका,	जैन सि॰ प्र॰ संस्था, कलकत्ता
गो॰जी॰	गोम्मटसार जीवकाण्ड	जैन सि॰प्र॰ संस्था, कलकत्ता

१ अन्य संकेताक्षर— उ॰ > उत्थाई। गा॰ > गाथा। टि॰ > टिप्पण। पृ > पृष्ठ।

गो.जी./ जी.प्र.	जीवतत्त्वप्रदीपिका	जैन सि.प्र. संस्था, कलकत्ता
ज्ञा.	ज्ञानार्णव	शुभचन्द्राचार्य राजचन्द्र ग्रन्थमाला, ई. १९०७
—	ज्ञानसार	पद्मसिंह मुनि, भा.दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.स. १९७५
—	चारित्तपाहुड	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.सं. १९७७
चा.सा.	चारित्रसार	चामुण्डराय, मणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.स. १९७४
—	चैत्यभक्ति टीका	
—	जयधवला (कषायपाहुड टीका)	दि. जैन सघ, मथुरा, वि.स. २०००
—	जिनसहस्रनाम	ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, बनारस १९५७
ज.प.	जबूदीवपण्णत्तिसगहो	जैन सस्कृति सरक्षण सघ, शोलापुर, वि.स. २०१४
—	जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश	भारतीय ज्ञानपीठ, द्वि.स., सन् १९८७
त.अनु.	तत्त्वानुशासन	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, ई. १९६३
त.वृ.	तत्त्वार्थवृत्ति	भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ई. १९४९
त.सार	तत्त्वार्थसार	अमृतचन्द्राचार्य, जैन सि.प्र. सस्था, कलकत्ता, ई. १९२९
त.सू.	तत्त्वार्थसूत्र	गणेशवर्णी जैन सस्थान, वाराणसी, ई. १९९१
ति.प.	तिलोयपण्णत्ति	यतिवृषभाचार्य, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, वि.स. १९९९
—	तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा	अ.भा.दि. जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७४
त्रि.सा.	त्रिलोकसार	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, जैनसाहित्य, बम्बई, ई. १९१८
द.पा.	दर्शनपाहुड	मणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.स. १९७७
द.सा.	दर्शनसार	नाथूराम प्रेमी, बम्बई, वि.स. १९७४
द्र.स.	द्रव्यसंग्रह	देहली, ई. १९५३
ध.	धवला (षट्खण्डागम टीका)	अमरावती, प्रथम सस्करण
—	नयचक्रबृहद्	श्री देवसेनाचार्य, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.स. १९७७
नि.सा./	नियमसार	कुन्दकुन्दाचार्य, कुन्दकुन्दभारती, फल्टन १९७०

ता॰वृ॰/क॰		(तात्पर्यवृत्तिसहित) कलश
—	न्यायदीपिका	अभिनवधर्मभूषण, कौरसेवा मन्दिर, देहली, वि॰सं॰ २००२
—	न्यायदर्शनसूत्र	महर्षि गौतम
प॰का॰/ ता॰वृ	पञ्चास्तिकाय	कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, वि॰सं॰ १९७२
प॰अ॰	पञ्चाध्यायी	कवि राजमल्ल, देवकीनन्दन, ई॰ १९३२
—	पद्मनन्दि-पंचविंशतिका	जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, ई॰ १९२२
प॰स॰प्रा॰	पंचसंग्रह (प्राकृत)	भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ई॰ १९६०
प॰पु॰	पद्मपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, वि॰स॰ २०१६
प॰मु॰	परीक्षामुख	स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी, प्र॰स॰
प॰प्र॰	परमात्मप्रकाश	योगेन्दुदेव, राजचन्द्र ग्रन्थमाला (टीकासहित), वि॰स २०१७
—	परवार जैन समाज का इतिहास	सिद्धान्ताचार्य पं॰ फूलचन्द्र शास्त्री, भा॰दि॰ जैन परवार सभा, जबलपुर ई॰ १९९२
पु॰सि॰	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	अमृतचन्द्राचार्य, नई दिल्ली, ई॰ १९८९
प्र॰सा॰/	प्रवचनसार (तात्पर्यवृत्तिसहित)	कुन्दकुन्दाचार्य, श्रीमहावीरजी, वी॰ नि॰ स॰ २४९५
बो॰पा॰	बोधपाहुड	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰स॰ १९७७
—	भक्तामर स्तोत्र	बृहद् महावीरकर्तन, महावीरजी १९६८
भ॰आ॰	भगवती आराधना	आ॰शिवार्य सखाराम दोशी, शोलापुर, ई॰ १९३५
—	भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन	आ॰ देशभूषण।
भा॰पा॰	भावपाहुड	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰स॰ १९७७
—	भावसंग्रह	देवसेनकृत
म॰पु॰	महापुराण	जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ई॰ १९५१
मू॰आ॰	मूलाचार	बट्टकेर, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, वि॰स॰ १९७६
मू॰आ॰	मूलाचार एक समीक्षात्मक	वसुनन्दिकृत आचारवृत्तिसहित, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई॰ १९८४
—	मूलाचार एक अध्ययन	डॉ॰ फूलचन्द्र प्रेमी, पा॰ वि॰ शोधसंस्थान, बनारस, ई॰ १९८७
मो॰पा॰	मोक्षपाहुड	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰स॰ १९७७

—	युक्त्यनुशासन	वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, ई. १९५१
—	योगसार	अमितगति, जै. सि. प्र. संस्था, कलकत्ता, ई. १९१८
र.क.	रत्नकरण्डश्रावकाचार	समन्तभद्राचार्य, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, ई. १९८१
र.सा.	रयणसार	कुन्दकुन्द, वी.नि. ग्रन्थप्रकाशन समिति, इन्दौर, वी.नि.सं. २५००
रा.वा.	राजवार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक)	अकलंक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९४४
—	लघु सिद्धभक्ति	
—	लब्धिसार,	जैन सि.प्र. संस्था, कलकत्ता, प्रथम संस्करण
—	लाटीसंहिता	कवि राजमल्ल, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.स. १९८४
—	लिंगपाहुड	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.स. १९७७
वसु.श्रा.	वसुनन्दि-श्रावकाचार	भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, वि.स. २००७
—	शीलपाहुड	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.स. १९७७
—	श्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक)	आ. विद्यानन्द, कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर, ई. १९४९-१९५६
—	श्रमण	पा.वि.शो. संस्थान, पत्रिका, बनारस
—	श्रुतावतार	वसुनंदि
—	षट्खण्डागम	वीरसेनकृत धवलाटीकासहित, पुष्पदंत भूतबलि, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, ई. १९७३
—	सप्तभङ्गीतरङ्गिनी	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वि.स. १९७२
—	समाधिशतक	वीरसेवा मन्दिर, देहली, स.वि. २०२१
स.सा.	समयसार	कुन्दकुन्दाचार्य, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली, ई. १९५८
स.सा.	सर्वार्थसिद्धि	आ. पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ई. १९५५
स्या.म.	स्याद्वादमञ्जरी	मल्लिषेण, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वि.स. १९९१
—	स्वयम्भूस्तोत्र	वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, ई. १९५१
—	सागारधर्मामृत	प. आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७८
—	सामायिकपाठ	अमितगति
सू.पा.	सूत्रपाहुड	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई वि.स. १९७७
—	हरिवंशपुराण	जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.स.।